Shri. Meher Baba Ki Akhand Jyoti is copyrighted © by the Avatar Meher Baba Perpetual Public Charitable Trust and is reproduced by permission.

श्री मेहेरबाबा

श्री मेहेरबाबा

की

अखंड ज्योति

भाग

२

मूल्य ३ रु.

आदि. के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स
किंगजरोड अहमदनगर.

प्रथम संस्करण

१० जुलाई १९५०

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक
नवसमाज प्रेस,
रामदासपेठ,
नागपूर.

प्रकाशक
आदि. के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स
किंग्जरोड अहमदनगर.

वक्तव्य

श्रीमेहेरबाबा के जो आध्यात्मिक लेख और संदेश समय समय पर 'Meher Baba' मासिक में प्रकाशित हुए हैं उनका यह अनुवाद "श्रीमेहेरबाबा की अखंड ज्योति" (तीन भाग) के रूपमें जनताजनार्दन को समर्पित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

पं. कुंजबिहारी चौबेजी के प्रति हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने मूल अंग्रेजी लेखोंका हिंदीमें अनुवाद किया है। इस अनुवाद को यथोचित सुधारकर पं. बलदेवप्रसाद मिश्रजीने भी हमें उपकृत किया है।

इसी प्रकार प्रेस कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ शुद्धीकरण और प्रकाशन की योजना और संचालन में जिन सज्जनोंने हाँथ बटाकर इस कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहायता पहुँचायी उन, श्री. जे. डी. केरावाला, डॉ. च. ध. देशमुख, श्री. ब. प्र. उपाध्याय श्री. प्रे. ना. भट्ट और श्री अंबिकाचरण जी शुक्ला इत्यादि सज्जनोंके भी हम अत्यंत आभारी हैं।

वैसे ही पुस्तकोंको इस रूप में मुद्रित करानेके लिये हम मुद्रक महाशयोंको भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

अहमदनगर
१० जुलाई १९५०

आदि. के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स

विषय-सूची

	पृष्ठ
कामवासना की समस्या	१–९
दाम्पत्य जीवन का पवित्रीकरण	१०–२१
ईश्वर की खोज	२२–३२
प्रेम	३३–४६
पथ की विभिन्न अवस्थाएँ	४७–५९
आत्मज्ञान की प्राप्ति	६०–७०
ईश्वरानुभूति	७१–८०
सच्ची शिष्यता	८१–९३
सद्गुरुओंके तरीके	९४–१०६
अहंकार का स्वभाव और अंत भाग १	१०७–११८
,, भाग २	११९–१३०
,, भाग ३	१३१–१४४
नवीन मानवता	१४५–१५९
आध्यात्मिक जीवन में गूढ़ विद्या का स्थान	
भाग १	१६०–१७३
,, भाग २	१७४–१८६
,, भाग ३	१८७–२०२

पृष्ठ

सात मुख्य तत्व			२०३–२०४
ध्यान के प्रकार	भाग १	....	२०५–२१७
,,	भाग २	....	२१८–२३०
,,	भाग ३	....	२३१–२४१
,,	भाग ४	....	२४२–२६१
,,	भाग ५	....	२६१–२७२
,,	भाग ६	....	२७३–२८५
,,	भाग ७	....	२८६–२९७
,,	भाग ८	... .	२९८–३०९

———

काम-वासना की समस्या

द्वैत की सीमा को पार करने के पूर्व, मनुष्य के मन को जिन अत्यंत महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करना पडता है, कामवासना की समस्या उनमें से एक है। कामवासना उन वस्तुओं में से एक है, जो मनुष्य को स्वभावसे ही प्राप्त हैं; और इससे मनुष्यको निपटना ही पडता है।

कामवासना का जन्म

यह भी सीमित मन की द्वन्द्वात्मक सृष्टियों में से एक है, और इसे भी द्वन्द्व की दृष्टि से ही देखा जाता है। जिस प्रकार, मन मानवीय जीवन को आल्हाद या विषाद, अच्छे या बुरे, निर्जनता या जन-संग, अनुरक्तियां या विरक्त के द्वंद्वों की योजना में व्यवस्थित करता रहता है, उसी प्रकार से कामवासना के संबंध में वह तृप्ति या दमन के बीच डाँवाडोल होता रहता है; और इससे उसे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसा मालूम होता है मानों मनुष्य को इस द्वंद्व के पक्ष-द्वय में से एक या दूसरे को स्वीकार करना ही होगा। किंतु तो भी वह इनमें से किसी एक को भी सर्वान्तःकरण से स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जब वह दमन का यत्न करता है, तो वह अपनी अवस्था से असन्तुष्ट रहता है, और तृप्ति की लालसा करता है। और जब वह तृप्ति में प्रवृत्त होता है, तो उसे इंद्रिय-

दासत्व का बोध होता है, और यांत्रिक इंद्रिय-निग्रह की ओर मुड़कर स्वतंत्रता की खोज करता है। द्वंद्व के दोनों भागों का वह क्रम-क्रम से अनुभव करता है; किंतु प्रत्येक अवस्था में वह असंतुष्ट ही रहता है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन की अत्यंत महत्व-पूर्ण एवं संक्लिष्ट समस्या का जन्म होता है।

कामवासना की समस्या को सुलझाने के लिए, यह समझना निहायत जरूरी है, कि तृष्णा के भ्रमात्मक प्रभाव में आकर, कल्पना द्वंद्व की सृष्टि करती है। तृष्णा से उद्भ्रान्त कल्पना के ही द्वारा इस द्वंद्व के क्रमागत दोनों विरोधों की उत्पत्ति होती है। काम-वृत्ति के दमन एवं तृप्ति दोनों में, तृष्णा गुप्त रूपसे विद्यमान रहती है। इंद्रिय-संवेदन की चाह या तृष्णा की क्रिया के द्वारा, चेतना के दूषित हो जाने के कारण ही, दोनों अवस्थाएँ पैदा होती हैं। अतः दोनों अवस्थाओं में मन अनिवार्यतः उद्विग्न रहता है। जिस प्रकार, आकाश के मेघाच्छन्न हो जाने पर सूर्य का प्रकाश लुप्त हो जाता है, और चारों ओर छाया फैल जाती है, चाहे वर्षा हो या न हो, उसी प्रकार, मानव मन के तृष्णाच्छादित होनेपर, जीवन-विस्तार का ह्रास तथा सच्चे सुख का अभाव हो जाता है, चा. इस तृष्णा की तृप्ति हो अथवा न हो। तृष्णा से अशांत मन को कामेच्छा की पूर्ति में सुख का भ्रम हो जाता है, और जब उसे यह अनुभव होता है, कि कामेच्छा की पूर्ति के पश्चात् भी आत्मा असन्तुष्ट ही रहती है, तब वह कामेच्छा को दमन

वासनातृप्ति एवं यांत्रिक दमन दोनों द्वंद्व निराशाजनक हैं

करके स्वतंत्रता पाना चाहता है। इस प्रकार, **सुख और स्वतंत्रता की खोजमें, मन तृप्ति एवं दमन के द्वंद्व में फंस जाता है, और दोनों ही अवस्थाओं में, वह समान रूपसे असन्तुष्ट रहता है।** चूंकि वह द्वंद्व से ऊपर उठने की कोशिश नहीं करता, अतः वह क्रमशः एक के बाद दूसरे विरोध से बद्ध होता है, अर्थात् एक निराशा के चंगुल से छूटकर, दूसरी निराशा के जाल में फंसता है। इस प्रकार बारी-बारी से वह बंधता जाता है।

द्वंद्वोंके मिथ्या आश्वासन

तृष्णा कल्पना के कार्य को मिथ्या बना देती है, और दो विरोधों में से एक को चुनने के लिए मन को बाध्य करती है। दोनों विरोध, अर्थात् तृप्ति तथा दमन, सुख प्रदान करनेका आश्वासन देते हैं; किंतु दोनों के आश्वासन समान रूपसे मिथ्या सिद्ध होते हैं। तृप्ति तथा दमन दोनों से क्रम से लगातार निराशाकी प्राप्ति होनेपर-भी, मन एकाएक विशाद के मूलकारण अर्थात् तृष्णा का त्याग नहीं करता, क्योंकि दमन में जब उसे निराशा का अनुभव होता है, तो वह तृप्ति के आश्वासन के धोखे में सहज ही आ जाता है; और जब उसे तृप्ति में निराशा का अनुभव होता है, तो वह सहजही पूर्णतः यांत्रिक दमन के झूठे आश्वासन के चक्कर में आ जाता है।

यह पिंजडे के भीतर चक्कर लगाने के समान है। सद्गुरु के द्वारा जागृत किये जाने के सौभाग्य से जो वंचित है,

उनके लिए, तृष्णा के आंतरिक एवं सहज त्याग का मार्ग अवरुद्ध है, अर्थात् आध्यात्मिक पथका प्रवेशद्वार बंद है।

ज्ञानसेही तृष्णा का आंतरिक एवं सहज त्याग संभव है

सच्ची जागृति उस ज्ञान-मार्ग में प्रविष्ट होती है, जो उचित समय में, निश्चयतः अनन्त स्वतंत्रता तथा शाश्वत आनन्द की अंतिम मंजिल में पहुँचा देता है। तृष्णाका आंतरिक एवं सहज त्याग, तृप्ति एवं यांत्रिक दमन दोनों से भिन्न है। **मन निराशा की वजह, तृष्णा का यांत्रिक दमन करता है; किंतु वह तृष्णा का आंतरिक एवं सहज त्याग भ्रांति-मुक्ति या जागृति के ही सबब करता है।** तृप्ति या यांत्रिक दमन की आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब तृष्णा का स्वरूप स्पष्टतः समझ में नहीं आता। जब साधक को इस बातका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, कि तृष्णा के अनिवार्य परिणाम दुख एवं बंधन ही हैं, तो वह विवेक-युक्त ज्ञान की सहायता से अपने मन को तृष्णा के भार से स्वेच्छापूर्वक मुक्त करना प्रारंभ कर देता है। **जब तक तृष्णा रहती है, तभी तक तृप्ति या दमन का प्रश्न उठता है, तृष्णा के पूर्णतः लोप होते ही, दोनों की आवश्यकता मिट जाती है।** जब मन तृष्णा से मुक्त हो जाता है, तो फिर वह तृप्ति या यांत्रिक दमन के मिथ्या आशा–आश्वासन के फंदे में नहीं फंसता।

तृप्ति और दमन का तृष्णासे संबंध है

तथापि यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये, कि **मुक्त जीवन तृप्ति–मय जीवन की अपेक्षा संयम–मय जीवन के अधिक निकट है,** यद्यपि इन दोनों से वह मूलतः भिन्न है। अतः साधक के लिए, वैवाहिक जीवन की अपेक्षा, पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन अधिक श्रेयस्कर है, बशर्ते कि वह बिना अनुचित आत्म–दमन के सध सके। किंतु बहुतेरे मनुष्यों के लिए, ऐसा संयम कठिन तथा कभी-कभी असंभव होता है; अतः उनके लिए वैवाहिक जीवन, ब्रह्मचर्य जीवनकी अपेक्षा, कहीं अधिक लाभदायक है। ब्रह्मचर्य पालन कर सकने की विशेष क्षमता रखनेवालों को छोड़कर, सामान्य मनुष्यों के लिए, वैवाहिक जीवन निःसंदेह उपादेय है।

तृप्ति की अपेक्षा संयम मुक्ति के अधिक समीप है।

जिस प्रकार, ब्रह्मचर्य-जीवन से अनेक सद्गुणों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, उसी प्रकार, वैवाहिक जीवन से भी अनेक परमोत्कृष्ट आध्यात्मिक गुणोंका विकास और उत्थान होता है। **संयम के अभ्यास तथा स्वतंत्रता एवं अनासक्ति के भाव में ब्रह्मचर्य का सार सन्निहित है।** किंतु जब तक मन तृष्णा से पूर्णतः मुक्त नहीं होगा, तब तक उसे सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार, **पारस्परिक व्यवस्था तथा पारस्परिक एकता के भाव में, वैवाहिक जीवन का सार सन्निहित है।** किंतु सच्ची एकता या द्वैत का लोप दिव्य प्रेम के

ब्रह्मचर्य और विवाह की संभाव्यताएं

ही द्वारा संभव है। दिव्य प्रेम तब तक अप्राप्य है, जब तक मन में वासना या तृष्णा का लेश मात्र भी बाकी है। तृष्णा के आंतरिक तथा सहजस्फूर्त त्याग के ही द्वारा, सच्ची स्वतंत्रता तथा एकता की उपलब्धि संभव है।

ब्रह्मचारी तथा विवाहित दोनों के लिए, आभ्यंतर जीवन का पथ एक-सा है। जब साधक सत्य की ओर आकर्षित होता है, तो फिर किसी अन्य वस्तु की चाह वह नहीं करता, और ज्यों ज्यों सत्य उसके अधिकाधिक सन्निकट आ जाता है, त्यों त्यों वह क्रमशः अपने को तृष्णा विमुक्त करता जाता है, चाहे वह ब्रह्मचारी हो अथवा विवाहित, वह तृप्ति या यांत्रिक दमन के भ्रमात्मक आशा-आश्वासनों के द्वारा, डाँवाडोल नहीं होता, और वह तब तक तृष्णा का आंतरिक तथा सहजस्फूर्त त्याग करता जाता है, जब तक वह द्वन्द्व की प्रवञ्चना से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता। ब्रह्मचारी तथा विवाहित, दोनों के लिये, पूर्णता का मार्ग खुला है; और **साधक की साधना का ब्रह्मचर्य-जीवन से शुरू होना, या वैवाहिक जीवन से शुरू होना, उसके संस्कारों तथा कर्म-बंधनों पर अवलंबित है।** वह अपने पूर्वजन्म द्वारा निर्णीत परिस्थितियों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है, और अपने अनुभव-गत आदर्श की ओर आध्यात्मिक प्रगति करने में, वह अपनी परिस्थितियों का उपयोग करता है।

ब्रह्मचर्य तथा विवाह दोनों के लिये पूर्णता का मार्ग खुला है

साधक के लिये, जो दो मार्ग विहित है उनमें से किसी एक को उसे अवश्य चुन लेना चाहिये। या तो उसे ब्रह्मचर्य-जीवन को अपना लेना चाहिये, या वैवाहिक जीवन स्वीकार कर लेना चाहिये। इन दोनों के बीचमें, उसे कोई सस्ता समझौता हरगिज़ नहीं करना चाहिये। कामेच्छा की तृप्ति में, **उच्छृंखलता या व्यभिचार साधक के लिये महान घातक है। ऐसा निरंकुश स्वेच्छाचार उसमें अदम्य कामेच्छा की वृद्धि करना है** उसका मन भयंकर रूपसे अस्तव्यस्त तथा दुर्दम होता है। और अंत में, उसकी दशा शोचनीय होती है। विस्तीर्ण एवं अनियंत्रित वासना उसकी नित्यानित्य विवेक-बुद्धी को उद्भ्रान्त कर देती, जिससे उसके बंधन दृढ होते हैं और उसके आध्यात्मिक पथ में, अनतिक्रम्य कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं। तृष्णा का सहज एवं आंतरिक त्याग, उसके लिये, असंभव होता है। विवाह के भीतर सीमित कामवासना तथा विवाह के बाहर अमर्यादित कामवासना में भेद है। वैवाहिक जीवन में वासना के संस्कार अपेक्षाकृत हल्के होते हैं, और अधिक सुविधा से दूर किये जा सकते हैं। जब काम-सहचर्य में उत्तरदायित्व, प्रेम एवं आध्यात्मिक आदर्श का भाव विद्यमान रहता है, तब कामेच्छा को परिवर्तित तथा उन्नयन (sublimation) करने के अधिक अनुकूल एवं उपयुक्त मौके रहते हैं। किंतु सस्ते और स्वेच्छाचार-युक्त व्यभिचार में यह बात लागू नहीं होती।

स्पष्ट चुनाव की आवश्यकता

व्यभिचार के जीवन में, केवल कामेच्छा की तृप्ति के लिये सहवास का अवसर ढूंढने का लोभ, अत्यंत उग्र तथा उद्दाम रूप धारण कर लेता है। कामवासना के क्षेत्र पर, अधिक से अधिक प्रतिबंध लगाने से ही, साधक, जीवनके उच्चतर सार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में, समर्थ हो सकता है। कामवासना का क्रमानुसार प्रेम में परिवर्तन होनेपर ही, जीवन का उच्चतर सार ग्रहण किया जा सकता है। किंतु कामेच्छा के क्षेत्रका प्रसार करके, यदि मन उसकी तृप्ति करना चाहता है, तो मन इतने प्रपंचों का शिकार होता चला जायगा, जिनका कोई अंतही नहीं है। क्योंकि कामेच्छा के क्षेत्रकी विस्तृति कहीं जाकर समाप्त नहीं होती। **व्यभिचार में कामेच्छा की सूचनाएं ही सर्व प्रथम मनमें उदित होती हैं; और मन एकमात्र इस प्राथमिक विकार से ही दूषित होकर, अनेक व्यक्तियोंपर प्रतिक्रिया करता है।** इस प्रकार, गंभीरतर अनुभूतियों का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है।

व्यभिचार के खतरे

जीवन की सतह पर भ्रमण-विचरण करने तथा काम-वासनासंसर्गों की वृद्धि करने से, सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। सत्यके ज्ञानके लिये, मनको अपनी क्षमताएं कुछ चुने हुए अनुभवोंपर केंद्रित करने के लिए तथा बंधनकारक विषयों से अपने आपको मुक्त करने के लिए, तैयार होना चाहिए। सद्‌सदविवेक की क्रिया तथा सत्यके लिए

दांपत्य जीवनका विवेकपूर्वक संचालन करने से अनन्तत्व की प्राप्ति

असत्य को त्यागने की गति तभी संभव है, जब हम हृदयकी पूरी एकाग्रता के साथ, जीवनमें सच्ची रुचि और वास्तविक रस लें; किंतु अनेक विषयों के पीछे निरन्तर दौड़ते रहने से तथा एक ही अनुभव के लिए अनेक तथा विभिन्न संभव विषयों में भ्रमण करनेसे, एकाग्रता का और सद्‌भिरुचि का मार्ग अवरुद्ध हो जाता हैं। दाम्पत्य जीवन में, पति-पत्नी की मित्रता में अनुभव का क्षेत्र इतना प्रशस्त हो जाता है, कि वासना की ही सूचनाएं आवश्यक रूपसे मनमें सर्वप्रथम उपस्थित नहीं होतीं; और कामवासना को पहचानने तथा उसे दूर करनेका साधक को सच्चा मौका मिलता है। धीरे-धीरे कामेच्छा को दूर करके, तथा प्रेम और त्याग के गंभीरतर अनुभवों की क्रमशः वृद्धि करके अंतमें वह अनन्तत्व की प्राप्ति कर सकता है।

दाम्पत्य जीवनका पवित्रीकरण

बहुतेरे मनुष्य बिना किसी सोच-विचार के, योंही दाम्पत्य जीवनमें प्रवेश करते हैं; किंतु उसका सहायक या बाधक होना उसकी संचालन-विधिपर निर्भर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैवाहिक जीवनके द्वारा कतिपय परम आध्यात्मिक संभाव्यताओं की सिद्धि की जा सकती है; किंतु ऐसा होना उसके सदुपयोग पर अवलंबित है। विवेक दृष्टि के द्वारा आध्यात्मिक सत्य निर्दिष्ट होनेपर ही, वैवाहिक जीवन सफल बनाया जा सकता है। उसे एकमात्र कामेच्छा की पूर्ति का साधन मान लेनेपर, या व्यावहारिक साझेदारी समझ लेनेपर वह लाभदायक नहीं होता। **उसे एक आध्यात्मिक साहसकार्य की भांति ग्रहण करना चाहिए; और उसमें इस बात का अनुसंधान करना चाहिए, कि जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप क्या हो सकता है।** जब पतिपत्नी दोनों कृत-संकल्प होकर, आत्मा की उच्चतर संभाव्यताओं का आविष्कार करने का बीडा उठाते हैं, तो वे अपने प्रयोग को वैयक्तिक लाभ-संबंधी स्वार्थ-परायण विचार-बुद्धि से एकदम सीमित नहीं कर सकते।

दाम्पत्य-जीवन एक आध्यात्मिक साहस-कार्य होना चाहिए

दाम्पत्य-जीवन, पति-पत्नी दोनों में, पारस्परिक सुव्यवस्था-एवं सहयोग की बुद्धि, उत्पन्न करता है। और उनके सम्मुख अनेक अनपेक्षित समस्याएं उपस्थित कर देता है। यद्यपि ऐसा प्रायः सामान्यतः सभी प्रकार के जीवन में हुआ करता है, किंतु वैवाहिक जीवनके संबंध में यह बात विशेषतः सच है। वैवाहिक जीवन में, वह प्रकार से दो आत्माएं आपसमें संबद्ध हो जाती हैं। अतः, उन्हें किसी एकान्त कामना के द्वार उत्पन्न कोई सरल समस्या नहीं सुलझानी पडती; किंतु **उन्हें व्यक्तित्व से संबंध रखनेवाली बहुतेरी और पेचीदा समस्याएं हल करनी पडती हैं।** यही एक विशेषता है, जिसके कारण दाम्पत्य जीवन कामेच्छामूलक व्यभिचार-मय जीवन से बिल्कुल भिन्न है। कामेच्छा-प्रेरित संबंध विकासशील व्यक्तित्व की दूसरी आवश्यकताओं की उपेक्षा करता है; तथा कामेच्छा की समस्या को उनसे अलग रखके स्वतंत्र रूपसे उसे हल करनेका यत्न करता है। और यद्यपि इस प्रकार का हल आसान मालूम पडता है, तथापि वह एक बाहरी हल सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक बड़ी हानि यह भी है कि साधक अपने उचित उत्तरदायित्व से पराङ्मुख होकर, वास्तविक समस्या को ठीक ढंग से सुलझाने की ओर ध्यान नहीं देता।

दाम्पत्य जीवन तथा कामेच्छामूलक व्यभिचार में मौलिक भेद है।

सीमित व्यक्तित्व के विभिन्न-भागों के सापेक्ष मूल्य, सर्वोत्तम ढंग से, तभी आँके जा सकते हैं, जब वे परस्पर संयुक्त

होकर भिन्न-भिन्न रूप तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। एक असंबद्ध श्रेणी में उनके एक दूसरे से अलग-अलग नियुक्त रहनेपर, उनकी असारता या ससारता को समझना कठिन हो जाता है। वैवाहिक जीवनमें, भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों की प्राप्ति के लिये, पर्याप्त क्षेत्र मिलता है। अतः, परिणामतः मन की अनेक प्रसुप्त प्रवृत्तियां, दाम्पत्य-जीवन की साकार योजना के चारों ओर, व्यवस्थित होने लगती हैं। **विविध अभिप्रायों की यह व्यवस्था न केवल निम्नतर तथा उच्चतर मूल्यों के बीच चुनाव करनेका असीम क्षेत्र प्रदान करती है, किंतु उनके बीच आवश्यक तनाव या खींच-तान उत्पन्न करती है, जिससे उन्हें परिवर्तित और उदात्त करना निहायत जरूरी हो जाता है।** एक दृष्टि से देखा जाय, तो वैवाहिक जीवन में, अनेक मानवीय समस्याएं अत्यंत तीव्र या उग्र रूप धारण कर लेती हैं। अतः **दाम्पत्य जीवनको हम एक रण-स्थल कह सकते हैं, जहां दासता की तथा स्वतंत्रता की शक्तियां और अज्ञान की एवं प्रकाश की शक्तियां, युद्ध के लिये इकट्ठी हो जाती हैं।** चूंकि साधारण मनुष्यों का वैवाहिक जीवन मिश्रित हेतुओं तथा विचारों के द्वारा निर्दिष्ट होता है, अतः विवाहित स्त्री पुरुषों के उच्चतर तथा निम्नतर स्वभावों के बीच, विषम संग्राम मच जाता है। इस संग्राम के फलस्वरूप, निम्नतर स्वभाव जर्जर हो जाता है; तथा उसका वास्तविक उच्चतर एवं दिव्य स्वभाव

वैवाहिक जीवन के विविध उद्देशों का तनाव उन्नयन (Sublimation) को आवश्यक बना देता है।

विवाह-संबंध की व्यवस्थाएं आंतरिक जीवन के परिवर्तन को उत्साहित कर दूतगामी बना देती हैं।

विजयी होकर पूर्ण रूप से प्रकट होता है। वैवाहिक जीवन दो आत्माओं के बीच इतने अधिक संबंध उत्पन्न कर देता है, कि उनमें पूर्ण संबंध-विच्छेद हो जाना समूचे जीवनमें अव्यवस्था, व्युतक्रम तथा अस्त-व्यस्तता को जन्म देता है। एक दूसरे से अलग होने की यह कठिनाई शीघ्र से शीघ्र आंतरिक पुनर्रचना स्थापित कर देती है। अतः यह कठिनाई एक छद्मवेशी सुअवसर है जिसके सबब पति-पत्नी के बीच ऐसा सच्चा और स्थायी प्रेम तथा मेल पैदा हो जाता है जिसके बलपर वे अत्यंत जटिल एवं अत्यंत कोमल परिस्थितियों का सामना कर सकते हैं।

दाम्पत्य-जीवन को ईश्वरीय योजना के लिये अनुकूल होना चाहिए।

दाम्पत्य-जीवन का आध्यात्मिक महत्त्व, उसकी दैनिक घटनाओं को निर्दिष्ट करनेवाले अभिप्रायों से सापेक्ष रहता है। यदि वह उथले विचारोंपर आधारित किया गया, तो वह सारे संसार के विरुद्ध एक स्वार्थयुक्त साझेदारी के रूपमें विकृत हो सकता है। किंतु यदि वह उच्च आदर्शों से प्रेरित हुआ, तो वह एक ऐसी उच्च कोटि की मैत्री के रूप में परिणत किया जा सकता है, जो न केवल पारस्परिक स्वार्थत्याग को अधिकाधिक प्रोत्साहन है, किंतु **जिसे माध्यम बनाकर पति-पत्नी समस्त मानव परिवार के प्रति संयुक्त प्रेम तथा सेवा कर सकते हैं।** जब इस प्रकार, वैवाहिक जीवन की व्यक्तिविकास की दिव्य योजना के साथ तालैक्य हो जाता है, तो ऐसे विवाह-संबंध से उत्पन्न बच्चों के लिये, वह एक शुद्ध

वरदान सिद्ध होता है, क्योंकि अपने पार्थिव जीवनके प्रारंभ में ही उन्हें आध्यात्मिक वातावरण प्राप्त होता है।

मां-बाप का दाम्पत्य-जीवन इस भांति बच्चों के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। किन्तु साथ ही साथ, बच्चों की उपस्थिति से मां-बाप का दाम्पत्य-जीवन भी समृद्ध होता है।

बच्चे दाम्पत्य-जीवन पवित्र तथा समृद्ध बनाते हैं।

बच्चे मां-बाप को, सच्चे तथा सहज प्रेम की अभिव्यक्ति तथा उन्नति के लिए अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रेम में स्वार्थत्याग सरल तथा आनंद-दायक होता है। इस प्रकार मां-बाप के जीवन में बच्चों का जो भाग होता है, वह स्वयं मां-बाप के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। अतः वैवाहिक जीवन में बच्चों के जन्म का हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिये।

वैवाहिक जीवनपर बच्चों का जो अधिकार हैं, उसे दृष्टि में रखते हुए वर्तमान संतति-निग्रह-आंदोलन पर ध्यान देना तथा इसकी समालोचना करना आवश्यक है। किसी एक विशिष्ट तथा सीमित स्वार्थ के दृष्टि-कोण से, इस प्रश्नपर विचार करना ठीक नहीं है। इस प्रश्नपर व्यक्ति तथा समाज के अंतिम कल्याण के दृष्टि-कोण से विचार करना अत्यंत आवश्यक है। अन्य विषयों की भांति, इस विषय की विवेचना करने का

संतति-निग्रह आंदोलन की उद्देश्य सिद्धि के लिये गलत साधन का उपयोग होता है।

हमारा दृष्टि-कोण भी प्रधानतः आध्यात्मिक होना चाहिए। संतति-निग्रह आंदोलन के प्रति, अनेक लोगों का रुख अस्पष्ट तथा अस्थिर है, क्योंकि उसमें अच्छे और बुरे तत्वों का विचित्र संमिश्रण है। **जहां संतति-निग्रह-आंदोलन का जन-संख्या के नियमन का उद्देश्य सही है, वहां इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधनों का उसका चुनाव शोचनीय एवं घातक है।** इसमें कोई शंका नहीं, कि व्यक्ति तथा समाज के हितके लिये बच्चों की संख्या का नियमन वांछनीय होता है। अनियंत्रित संतानोत्पादन जीवन-संग्राम की गति को उग्र कर देता है, और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि करता है जिसमें स्वार्थपूर्ण स्पर्धा अनिवार्य हो जाती है। बच्चों की अधिकता के कारण मां-बाप अपने उत्तरदायित्व का यथोचित पालन नहीं कर सकते। अनियंत्रित संतानोत्पादन अपराध, युद्ध एवं दारिद्र्य का भी अप्रत्यक्ष तथा सहायक कारण होता है। किन्तु यद्यपि मानव-प्रेम प्रेरित बौद्धिक विचार-दृष्टि से, बच्चों की संख्या को मर्यादित करने के सभी सच्चे प्रयत्न उचित तथा आवश्यक हैं, तथापि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, भौतिक साधनों का उपयोग सर्वथा अनुचित तथा हानिकर है।

संतति-निग्रह-आंदोलन के समर्थक सामान्यतः जिन भौतिक साधनों का प्रचार करते हैं, वे अध्यात्मिक दृष्टिकोण से अत्यंत दोष-पूर्ण एवं आपत्तिजनक हैं। यद्यपि मानव-हित-कामना से प्रेरित होकर ही, इस आंदोलन के प्रवर्तक भौतिक

साधनों का प्रचार करते हैं, किंतु सामान्य लोग, अपने स्वार्थ-पूर्ण उद्देश्य की पूर्ति तथा बच्चों का भार वहन करने या उनका पालन-पोषण करने की जिम्मेदारी से बचने की गरज से ही, इनका उपयोग करते हैं। अतः जीवन के उच्चतर मूल्यों से अपरिचित व्यक्तियों के लिए, कामेच्छा की पूर्ति में संयत रहने के लिए कोई प्रेरणाशक्ति ही नहीं रह जाती, क्योंकि वासना का शिकार होने के भौतिक परिणामों से इन भौतिक साधनों के द्वारा आसानी के साथ बच जाते हैं। इस प्रकार, वे अत्यधिक वासनातृप्ति के शिकार बन जाते हैं। और मानसिक संयम की अवहेलना करके तथा पाशविक काम-वृत्ति के क्रीतदास होकर, वे अपना शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक नाश कर डालते हैं।

भौतिक साधनों का उपयोग मानसिक संयम के प्रवर्तक हेतु को नष्ट कर देता है

भौतिक साधनों का उपयोग मनुष्य की दृष्टि से समस्या के आध्यात्मिक पहलू को ओझल कर देता है, तथा उसे अपनी आध्यात्मिक महिमा एवं स्वतंत्रता का ज्ञान कराने में, किंचित् भी सहायता नहीं पहुंचाता। विचारशून्य तथा असंयत वासनातृप्ति दुष्परिणामों तथा बंधनों की वृद्धि करती है। विशेषकर आध्यात्मिक साधकों को तथा समस्त मनुष्यों को भी (क्योंकि सभी स्वभावतः सुप्त स्थिति में आध्यात्मिक साधक हैं), **यह सलाह दी जाती है, कि बच्चों की संख्या कम करने के**

कामुकता से उठकर शांति में प्रवेश करने के लिये मानसिक संयम अनिवार्य है।

लिए, वे भौतिक साधनों पर किसी भी हालत में अवलंबित न रहें। बच्चों की संख्या कम करने के लिए, उन्हें मानसिक संयम के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। मानसिक संयम के द्वारा, संतति-निग्रह आंदोलन में निहित मानव-कल्याण-कामना का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है; तथा भौतिक-साधनों के उपयोग से होनेवाले दुष्परिणामों से भी रक्षा होती है। मानसिक संयम बच्चों की संख्या कम करने के साथ ही साथ, मनुष्य के दिव्य गौरव तथा आध्यात्मिक हित की भी पुनःस्थापना करता है। **मानसिक संयम का बुद्धि-युक्त अभ्यास करने से ही, मनुष्य कामुकता से शांति, बंधन से मुक्ति, तथा पशुता से पवित्रता की ओर अग्रसर हो सकता है।** विचारशील व्यक्तियों को इस समस्या के अत्यंत उपेक्षित आध्यात्मिक पहलू की महत्ता पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

चूंकि स्त्री को बच्चों के जनन तथा पोषण की तकलीफें और जिम्मेदारी झेलना पडती है, अतः मानसिक संयम की किसी संभव असफलता का परिणाम पुरुष की अपेक्षा उसे ही अधिक भोगना पडता है, ऐसा मालूम होता है। किंतु यथार्थ में स्त्री के प्रति यह कोई सचमुच का अन्याय नहीं है।

माता-पिता का संयुक्त उत्तरदायित्व

यह सच है कि स्त्री को संतान के जनन तथा पोषण का कष्ट तथा उत्तरदायित्व उठाना पडता है; किंतु उनको खिलाने-पिलाने, उनका लालन-आलिंगन करने का आनन्द भी तो

उन्हें पुरुष की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है। इस प्रकार, मातृत्व का आनन्द पितृत्व के आनन्द से कहीं बढकर है। फिर, पुरुष को बच्चों के प्रति अपने आर्थिक तथा शिक्षा-विषयक उत्तरदायित्व को अवश्य निभाना चाहिए। उचित ढंग से व्यवस्थित विवाह संबंध में, मातृपितृविषयक उत्तरदायित्व में स्त्री तथा पुरुष, दोनों को अपना-अपना भाग लेना चाहिए। उत्तरदायित्व के विभाजन में किसी के प्रति किसी प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता। यदि मा तथा बाप, दोनों को अपने पारस्परिक उत्तरदायित्व का सच्चा ज्ञान हो, तो पूर्ण मानसिक संयम साधनेका सक्रिय तथा सहयोगशील प्रयत्न, अपरिणाम-दर्शी अविचार का स्थान ग्रहण कर लेगा; और यदि कभी मानसिक संयम असफल हुआ, तो दोनों इच्छापूर्वक एवं प्रसन्नतापूर्वक, माता-पिता का संयुक्त उत्तरदायित्व संभाल लेंगे।

यदि बच्चों की जिम्मेदारी संभालने के लिए कोई व्यक्ति तैयार नहीं है, तो उसके लिए सिर्फ एक ही रास्ता है। उसे ब्रह्मचारी रहना चाहिए; तथा मानसिक संयम का पूर्ण पालन करना चाहिए। क्योंकि, यद्यपि ऐसा मानसिक संयम अत्यंत कठिण है, तथापि वह असंभव या असाध्य नहीं है। केवल आध्यात्मिक दृष्टिबिंदु से, पूर्ण ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए द्वितीय सर्वोत्तम मार्ग विवाह है। व्यभिचार का शिकार होने की अपेक्षा विवाह श्रेष्ठतर है। वैवाहिक जीवनमें

वैवाहिक जीवनमें बच्चों का स्वागत किया जाना चाहिए

पाशविक-कामवृत्ति का संयम सीखा जा सकता है। किंतु इस क्रिया का क्रम-बद्ध होना अवश्यंभावी है। और **संयम में असफल होनेपर, माता-पिता को चाहिये कि वे प्रकृति को अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड दें और कृत्रिम उपायों के द्वारा उसके कार्य में हस्तक्षेप न करें।** उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य के परिणाम का स्वागत करना चाहिए; तथा बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व वहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भौतिक साधनोंपर निर्भर रहने से मानसिक शक्ति क्षीण होती है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, केवल एकमात्र मानसिक संयम के द्वारा संततिनिग्रह करना चाहिए। अन्य किसी उपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। किसी भी परिस्थिति में, भौतिक साधनों का उपयोग करने की सलाह नहीं दी जा सकती। थोडे समय के लिए, एक द्वितीय सहायता के तौरपर, मानसिक संयम की वृद्धि के आदर्श की उपेक्षा किये बिना भी उनका उपयोग वांछनीय नहीं है। भौतिक साधनों का उपयोग करते हुए या आश्रय लेते हुए, कोई मनुष्य सच्ची इच्छा के रहते हुए भी, मानसिक संयम का यथार्थ पालन नहीं कर सकता। इसके विपरीत भौतिक साधनों के उपयोग का उसे व्यसन हो जाता है; और वह उन्हें उचित समझने लगता है। इस बात को जरा स्पष्टतः समझाने की जरूरत है। भौतिक साधनोंके उपयोग में व्यक्ति यह सोचता है, कि वह उनका उपयोग मात्र आरंभिक

सहायता के तौरपर कर रहा है, और मानसिक संयम की शक्ति आ जानेपर या मानसिक संयम के सधने पर वह उन्हें छोड देगा। किंतु होता यह है कि उसे उनका उपयोग करने की लत पड़ जाती है और वह यथार्थ में इस आदत का गुलाम बन जाता है। और यद्यपि वह कुछ समय तक इस भ्रम में रहे कि (भौतिक साधनों का उपयोग करने के साथ ही साथ) उसका मानसिक संयम बढ़ रहा है, तथापि वास्तवमें, उसका मानसिक संयम धीरे-धीरे घटता चला जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि **भौतिक साधनों पर अवलंबित रहने से मानसिक शक्ति अवश्यतः क्षीण हो जाती है।** इस प्रकार, भौतिक साधनों का उपयोग आत्म-संयम की वृद्धि के लिए घातक है तथा आध्यात्मिक उन्नती के लिए नितान्त अनर्थकारी है। अतः किसी भी अवस्था में, उनका उपयोग करने की सलाह नहीं दी जा सकती, चाहे उनका उपयोग अच्छे से अच्छे हेतु से क्यों न किया जाय।

वैवाहिक जीवन के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति।

वैवाहिक जीवन के आरंभ में, पति-पत्नी वासना एवं प्रेम दोनों के द्वारा एक दूसरे की ओर खिंचते हैं। किंतु हेतुपूर्वक एवं सचेष्ट सहकारिता के बलपर, वे क्रमशः वासना-वृत्ति को कम तथा प्रेम-भाव की वृद्धि कर सकते हैं। इस वृद्धि की प्रक्रिया से, अंततोगत्वा वासना गंभीर प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। एक दूसरे के सुख-दुख से सुखी-दुखी होने की परस्परता के कारण, पति-पत्नी एक आध्यात्मिक विजय से

दूसरे आध्यात्मिक विजय की ओर बढते हैं, गंभीर प्रेम से गंभीरतर प्रेम में प्रवेश करते हैं, **आरंभ काल का ममत्व-प्रधान एवं मत्सरयुक्त प्रेम व्यापक तथा त्यागशील प्रेम में पूर्णतः परिणत हो जाता है।** सच पूछा जाय, तो विवाह का विवेकपूर्वक संचालन करके, मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग की इतनी दूरी तय कर सकता है, कि उसे अनन्त जीवन के पवित्र मंदिर में ले जाने के लिये, केवल सद्गुरु के स्पर्श मात्र की ही आवश्यकता रह जाती है।

ईश्वर की खोज

बहुतेरे मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह ही नहीं करते, और वे ईश्वर के विषय में विशेष उत्सुक भी नहीं होते। दूसरे ऐसे लोग भी हैं, जो परंपरागत प्रभाव के कारण, किसी न किसी धर्म के अनुयायी हो जाते हैं; तथा अपने असापास के लोगों की देखा-देखी ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने लग जाते हैं। इन लोगों की श्रद्धा में इतना बल अवश्य होता है कि वे कुछ रूढि-नियमों, आचार विधियों या धार्मिक अनुष्ठानों से बंध जाते हैं, किंतु वह इतनी सजीव नहीं होती कि जीवन के प्रति उनके पहिले दृष्टिकोण को आमूल परिवर्तित कर सके। कुछ ऐसे भी लोग हैं (जो दार्शनिक बुद्धि के होते हैं) जो निजी कल्पनाओं या अन्य व्यक्तियों की घोषणाओं के कारण ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं। इन लोगों के लिए, ईश्वर अधिक से अधिक एक संभाव्य अनुमान या एक बौद्धिक विचार होता है। किंतु ऐसे शिथिल विश्वास से, इतनी पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलती, कि ईश्वर की सच्ची खोज करने का बीड़ा उठाया जाय। निजी अनुभव से उन्हें ईश्वर के संबंध में

ईश्वर–विश्वास की विभिन्न कोटियाँ

कोई जानकारी नहीं होती; और उनके लिए ईश्वर प्रचंड अभीप्सा के प्रयत्न का विषय नहीं होता।

आध्यात्मिक सत्यों का जो ज्ञान जनश्रुति या किंवदन्ती पर आश्रित है, उससे सच्चा जिज्ञासु सन्तुष्ट नहीं रह सकता। तर्क-सिद्ध ज्ञान से भी उसे संतोष प्राप्त नहीं होता। उसके लिए आध्यात्मिक सत्य कोरे तर्क-वितर्क या बुद्धि-विलास के विषय नहीं होते। इन सत्यों को स्वीकार या अस्वीकार करना, उसके आंतरिक जीवन के लिए, घोर महत्व एवं गंभीर अर्थ रखते हैं। अतएव उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की उसकी स्वाभाविक टेक हो जाती है। यह बात एक बड़े राजकुमार के दृष्टांत से स्पष्ट हो जायगी। एक दिन वह आध्यात्मिक विषयों पर अपने ऐसे मित्रसे बहस कर रहा था, जो आध्यात्मिक मार्ग में काफी बढ़ चुका था। वे इस प्रकार बहस-मुबाहसे में भिडे हुए थे कि उनकी बाजूसे एक शव ले जाया जा रहा था, जिस पर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। "यह देह का अवसान है, आत्मा का नहीं," मित्र ने शव की ओर संकेत करके कहा। "क्या तुमने आत्मा को देखा है?" राजकुमार ने प्रश्न किया। "नहीं",—मित्र ने उत्तर दिया; और राजकुमार आत्मा के संबंध में संशयशील ही बना रहा, क्योंकि उसका आग्रह था कि वह आत्मा का व्यक्तिगत ज्ञान प्राप्त करे।

सच्चा जिज्ञासु आध्यात्मिक सत्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान चाहता है।

यद्यपि जिज्ञासु अन्य लोगों से अधिगत ज्ञान या निरे अनुमान से संतुष्ट नहीं होता, तथापि वह ऐसे आध्यात्मिक सत्यों के अस्तित्व की संभाव्यता के विरुद्ध, जो उसके अनुभव में नहीं आये हैं, अपने मन को बंद नहीं कर देता।

जिज्ञासु का मन खुला रहता है।

अर्थात् **वह अपने वैयक्तिक अनुभवों की सीमाओंको जानता है, और वह उन्हें सब प्रकार की संभाव्यताओं का मापदंड बनाना उचित नहीं समझता।** उसके अनुभव क्षेत्र से बाहरकी सभी वस्तुओं के लिए, उसका मन खुला रहता है। यह सच है कि किंवदन्ती के आधारसे वह उनपर विश्वास नहीं करता; किंतु वह उनपर पूर्ण अविश्वास करनेकी हद पर भी नहीं कूद पडता। यह सच है कि अनुभव की परिमितता कल्पना के क्रिया-क्षेत्र को मर्यादित कर देती है; और मनुष्य विश्वास करने लगता है कि उसके विगत अनुभव की परिधि में जो बातें आ चुकी हैं उनके अतिरिक्त दूसरे कोई तत्व हैं ही नहीं। किंतु प्रायः, उसके खुद के जीवन में ऐसे प्रसंग आ पडते हैं, या ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, जिनके परिणाम स्वरूप,वह अपना मन कट्टरता के कपाट खोलकर, बाहर निकालता है। इस प्रकार, उसके मनके बंद-द्वार खुल जाते हैं।

यह मानसिक अवस्थान्तर, उसी उपरोक्त राजकुमार के जीवन से लाई गई कथा से, स्पष्टतः समझ में आ जायगा। एकबार उपर्युक्त बहसकी घटना के कुछ दिनों के बाद, जब वह घोडेपर चढकर कहीं चला जा रहा था, तो उसने देखा,

कि रास्तेपर विरुद्ध दिशा से एक साधारण पैदल यात्री उसी की ओर चला आ रहा है। थोडी ही देरमें उस पैदल यात्री की उपस्थिति से घोडे का मार्ग अवरुद्ध हो गया। राजकुमारने सगर्व उसे रास्ता छोडने का हुक्म दिया। पैदल यात्रीने मार्गसे हटने से साफ इंकार कर दिया। इस पर राजकुमार घोडेपर से उतर गया; और उसके तथा राजकुमार के बीच इस प्रकार बातचीत हुई:—"तुम कौन हो?" पैदल यात्रीने पूछा। "मैं राजकुमार हूँ", राजकुमारने उत्तर दिया। "किंतु मैं नहीं जानता कि तुम राजकुमार हो",—'पैदल यात्री कहता चला गया। "मैं तुम्हारा राजकुमार होना तभी स्वीकार करूँगा, जब मैं जान लूंगा, कि तुम राजकुमार हो, अन्यथा नहीं।" इस प्रत्युत्तर को सुनकर, राजकुमार की बुद्धि इस तथ्य को ग्रहण करने के लिये जागृत हुई, कि यद्यपि मैं व्यक्तिगत अनुभव से न जानूं, तो भी ईश्वर हो सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे वह वास्तव में राजकुमार है, यद्यपि पैदल यात्री अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह नहीं जानता। चूंकि अब उसका मन ईश्वर के संभाव्य अस्तित्व पर विचार करने के लिए खुल गया; अतः इस विषय का अंतिम निर्णय करने के कार्य में वह कृतसंकल्प होकर जुट गया। वह राजकुमार आगे ऋषि बना।

दृष्टान्त

ईश्वर का या तो अस्तित्व है; या नहीं है। यदि उसका अस्तित्व है, तो उसकी यथेष्ट खोज सर्वथा उचित

है; और मान लो कि उसका अस्तित्व नहीं है, तो भी उसे खोजने में कोई हानि नहीं है। किंतु प्रायः, मनुष्य एक आनन्दपूर्ण साहस-कार्य के तौरपर, ईश्वर की सच्ची खोज नहीं करता। संसार की मोहक वस्तुओं से ध्यान हटाना उसके लिए कठिन होता है; किंतु इन सांसारिक वस्तुओंके संबंध में जब उसका भ्रम दूर हो जाता है, तब कहीं सचाई के साथ, वह ईश्वर की खोज करने के लिए मजबूर होता है। साधारण मनुष्य स्थूल जगत् से संबंध रखनेवाले कार्यों में पूर्णतः निमग्न रहता है। सुखों एवं दुःखों के अनेक अनुभवों से गुजरता हुआ, वह अपना जीवन व्यतीत करता है। किसी गंभीरतर सत्य के अस्तित्व के बारे में वह संदेह भी नहीं करता। जहां तक उससे बन पडता है, वह इंद्रिय के सुखों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है; और साथ ही साथ विभिन्न दुःखों का निवारण करने की कोशिश करता है।

साधारण मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व के प्रति उदासीन रहता है।

"खाओ, पिओ और मौज करो"—यही उसका दर्शन-शास्त्र होता है। किंतु आमोद, प्रमोद, और भोग-विलास की अविश्रांत खोज करते रहने के बावजूद भी, वह दुःखों और यंत्रणाओं का पूर्ण निवारण करने में असमर्थ रहता है। और इंद्रिय सुखों की उपलब्धि में सफल होनेपर भी, वह उनके भोगसे बहुधा ऊब जाता है। इस प्रकार, जब वह विभिन्न अनुभवों के दैनिक

विचारोत्तेजक प्रसंग

चक्कर में फंसा हुआ रहता है, तब कभी कभी ऐसा प्रसंग आता है, जब वह अपने आपसे यह प्रश्न करता है, "**आखिर इन सबका अंत कहां होगा ?**" ऐसा प्रसंग किसी ऐसी अवांछनीय एवं अप्रतिक्षित घटना से उपस्थित होता है, जिसके लिये उसका मन प्रस्तुत नहीं रहता। या तो कोई ऐसी अपेक्षा, जिसके निष्फल होने का स्वप्नमें भी विश्वास नहीं होता, एकाएक भग्न हो जाती है, और इस प्रकार सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है, या किसी विपदाके आ जानेसे उसकी परिस्थिति में कोई ऐसा महत्वपूर्ण उलटफेर पैदा हो जाय, जिससे उसकी पूर्व-प्रतिष्ठित विचार-विधि तथा कार्य-पद्धति को गहरी ठेस पहुंचे, और उन्हें आमूल बदलकर नयी व्यवस्था करना, उसके लिए आवश्यक हो जाय। प्रायः किसी गहरी तृष्णा (जिससे वह अभिभूत था) के खंडित होने पर ही, ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है। जब कोई गहरी तृष्णा चौपट हो जाती है, और उसकी क्षति-पूर्तिकी लेशमात्र आशा बाकी नहीं रहती, तब उसके अंतःकरण को एक जबरदस्त धक्का लगता है। फल यह होता है, कि अब तक जिस प्रकार के जीवन को वह बिना किसी सोच विचार के स्वीकार करता रहा है, उसे **क्षणभर** भी स्वीकार करना उसके लिए एकदम असह्य हो जाता है।

ऐसी परिस्थितियों में निराशा के वशीभूत होकर मनुष्य बिलकुल किंकर्तव्य विमूढ हो जाता है; और अंतःकरण में उथल–पुथल मचने से जो प्रचंड शक्ति उत्पन्न होती है, उसे

यदि अनियंत्रित तथा अनिर्दिष्ट छोड दिया जाय, तो मनुष्य या तो पागल हो जाता है, या आत्म-हत्या कर लेता है।

अनियंत्रित तीव्र नैराश्य घातक होता है। किन्तु ईश्वर की तरफ झुकने पर विधायक हो जाता है।

ऐसा संकट उन लोगोंपर आता है, जिनका नैराश्य विचारशून्य होता है, और जो उछलती हुई वासना के हाथों अपने आपको बिलकुल सौंप देते हैं। विवेकविहीन नैराश्य विध्वंसक ही हुआ करता है। किन्तु ऐसी ही परिस्थितीयों में, एक विवेकशील मनुष्य का तीव्र नैराश्य, बिलकुल भिन्न परिणाम पैदा करता है, क्योंकि वह निराशाजन्य शक्ति को किसी अभिप्राय की ओर एकाग्र तथा निर्दिष्ट करता है। मनुष्य विवेकशील तीव्र नैराश्य के क्षण में, जीवनका वास्तविक लक्ष्य खोज निकालनेका महत्वपूर्ण निश्चय करता है। इस प्रकार, स्थायी मूल्यों की खोज का सूत्रपात होता है। अब कभी शांत न होनेवाला प्रज्वलित प्रश्न बारंबार मन में उठता है,– **"आखिर जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है ?"**

जब मनुष्य की अन्तःकरण की शक्ति जीवनके चरम लक्ष्य का अनुसंधान करनेके प्रयत्न में केंद्रीभूत होती है, तो

दैवी तीव्र नैराश्य आध्यात्मिक जागृति का आरंभ है।

कहना चाहिए, कि वह अपने नैराश्य का विधायक तरीके से उपयोग कर रहा है। इस जीवनकी चंचल वस्तुओं की चाह उसे अब नहीं रहती संसारकी चीजों से जिनका महत्व उसने अभी तक गृहीत लिया था, वह अब बिलकुल संशयशील होता है। उसकी एकमात्र इच्छा सत्य को किसी भी मूल्यपर

खोज निकालनेकी है; और सत्य से कम किसी भी चीजसे उसे संतोष नहीं हो सकता। **दैवी तीव्र नैराश्य आध्यात्मिक जागृती का आरंभ है; क्योंकि वह ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा को जन्म देता है।** दैवी तीव्र नैराश्य की पवित्र घडी में, जब प्रत्येक वस्तु निराशाजनक मालूम होती है, मनुष्य सब प्रकारके खतरे सिरपर लेकर, किसी ऐसे संभाव्य अर्थपूर्णता को प्राप्त करने के लिये कमर कस लेता है, जो आच्छन्न सी है।

पहले की सभी सांत्वनाओंने उसे धोखा दिया; किंतु उसकी अंतर्ध्वनि साथ ही साथ, यह बात मानसे भी इंकार करती है, कि जीवन बिलकुल अर्थ-रहित या सार-शून्य है। **यदि वह किसी ऐसे प्रच्छन्न सत्यपर, जिसे उसने अभी तक नहीं जाना है, विश्वास नहीं करता, तो फिर उसके लिए रह ही क्या जाता है, जिसके लिए वह जीवित रहे?** उसके लिए केवल दो ही बातें रहती हैं। या तो सिद्धपुरुषोंके कथनानुसार, ईश्वर नाम का कोई गुप्त आध्यात्मिक सत्य है; अथवा सब कुछ निःसार है। दूसरी बात को मनुष्य का समूचा व्यक्तित्व स्वीकार करनेसे इंकार कर देता है; अतः वह पहली ही बात की खोज-ढूंढ़ करने के लिए विवश होता है। इस प्रकार, संसार से हताश होनेपर, मनुष्य ईश्वर की ओर मुडता है।

केवल दो बातें या तो ईश्वर या कुछ भी नहीं।

चूंकि उस सत्य (जिसपर उसने विश्वास किया है) तक पहुंचनेके लिए, कोई प्रत्यक्ष तथा सीधा मार्ग नहीं है, वह अपने पहले के अनुभवों को ही आंखोंसे ओझल महिमामय के पास पहुंचने के साधन समझता है, और तदनुसार वह

मानी हुई दिव्यता के प्रकाश में अनुभवों का नया मूल्य-निर्धारण

अपने पहले के अनुभवोंको, पथ-दर्शन के अभिप्राय से फिरसे शुरू करता है। अब वह प्रत्येक वस्तुको एक नई दृष्टि से देखता है; और प्रत्येक अनुभव की नए सिरे से व्याख्या करता है। अब केवल अनुभव ही नहीं करता; किंतु उसकी आध्यात्मिक महत्ता की थाह लेता है। 'अनुभव कैसा है?'—केवल इसी से वह संतुष्ट नहीं रहता; किंतु अनुभव का उसके छिपे हुए लक्ष्य से क्या संबंध है, वह यह **जानने** की कोशिश करता है। इस प्रकार, जब वह प्रत्येक अनुभव का नए सिरे से मूल्य-निर्धारण करता है, तो उसे वह अंतर्दृष्टि प्राप्त होती जाती है, जो नई खोज शुरू करने के पहले उसे अज्ञात थी।

अनुभव का नए सिरे से मूल्य आंकने का अर्थ है, विवेक की वृद्धि। आध्यात्मिक विवेक की, ज्यों ज्यों वृद्धि होती चली जाती है, त्यों त्यों जीवन के प्रति साधारण रुख संशोधित या परिवर्तित होता जाता है।

नयी प्रज्ञा का अर्थ है, अनुभूत मूल्यों को आचरण में लाना।

अतएव, ईश्वर या प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्य की बौद्धिक खोज की प्रतिध्वनि, मनुष्य के आचरण या व्यावहारिक जीवनमें, होने लगती है; अर्थात् जिसे वह बुद्धि में सोचा करता था, उसे अब कार्यरूप में परिणत

करता रहता है। उसका जीवन अब अनुभूत आध्यात्मिक तथ्यों या मूल्यों का सच्चा प्रयोग बन जाता है।

ज्यों ज्यों उसका निजी जीवन से विवेक सम्मत तथा अभिप्राय-मूलक प्रयोग अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों जीवनके वास्तविक अर्थ का उसका बोध अधिक अधिक गहरा होता जाता है। अंत में उसे पता लगता है, कि ज्यों ही उसके अंतःकरण का मौलिक परिवर्तन होता है, त्यों ही उसे जीवन की अंतिम महत्ता, ज्यों की त्यों, विदित हो जाती है। **जीवनके परम स्वरूप एवं मूल्य का सुस्पष्ट तथा प्रशांत दर्शन करनेपर, उसे ज्ञान होता है, कि वह ईश्वर, जिसे वह इतना विकल-विव्हल होकर खोजता रहा है, कोई विदेशीय, प्रच्छन्न या पृथक् सत्ता नहीं है; वह कोई अनुमान या कल्पना नहीं है; किंतु स्वयं सत्य है; वह निर्मल दृष्टि से द्रष्टव्य सत्य है, जिससे वह भिन्न नहीं है, एवं जिसमें उसका संपूर्ण अस्तित्व सम्मिलित है, एवं जिससे वस्तुतः उसका तादात्म्य है।** इस प्रकार, यद्यपि वह अपनेसे बिलकुल भिन्न किसी नयी वस्तुकी खोज करने चला था, तथापि वह यथार्थतः प्राचीन वस्तुका केवल नया ज्ञान ही प्राप्त करता है। आध्यात्मिक यात्रा में मनुष्य का उद्दिष्ट स्थान केवल यही है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं पाता है, जो उसके पास नहीं थी; या वह नहीं बन जाता है जो वह नहीं था। केवल उसके

ईश्वर को पाना अपने आपको जानना है।

जीवनके अज्ञान का मात्र नाश होता है; और उसके उस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, जिसका आरंभ आध्यात्मिक जागृति से होता है। आध्यात्मिक यात्रा का यही अर्थ है। **ईश्वर को पाना आपने आपको जानना है।**

प्रेम

जीवन और प्रेम-अविभेद्य या नित्यसहवर्ती हैं। जहाँ जीवन है, वहाँ प्रेम है। अत्यंत प्राथमिक अवस्था में भी, चेतना अपनी सीमाओंसे फूट निकलने तथा अन्य रूपोंसे किसी न किसी प्रकार की एकता अनुभव करने की चेष्टा करती है। यद्यपि प्रत्येक रूप अन्य रूपोंसे भिन्न है, तथापि वे सब एक ही जीवन के भिन्न भिन्न रूप हैं। और इस अप्रगट अंतर्गत सत्य का सुप्त भाव ही, भ्रम-मय संसार में भिन्न-भिन्न रूपों के बीच आकर्षण प्रत्याकर्षण के द्वारा, अप्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत होना चाहता है।

प्रेम विश्वव्यापी है।

सब तारे और ग्रह जिसके आधीन हैं उसे गुरुत्वाकर्षण का नियम (Gravitation) एक प्रकारसे विश्व के प्रत्येक कण में व्याप्त प्रेम का ही एक अस्पष्ट प्रतिबिंब है। प्रतिसारक शक्ति (Repulsion) भी, वस्तुतः प्रेमकी ही अभिव्यक्ति है, क्योंकि किसी तीसरी वस्तु के प्रति प्रचण्ड आकर्षण ही, एक दूसरे को हटाने का कारण होता है। प्रतिसारक शक्ति आकर्षण का ही एक निषेधक परिणाम है। पदार्थों के बीच

जड़ जगत् में प्रेम का राज

पारस्परिक संश्लेष शीलता (Cohesion) तथा संसक्ति शीलता (Affinity), जो भौतिक वस्तुओं के मौलिक तत्त्व-विधान में ही पायी जाती हैं, प्रेम की विधायक अभिव्यक्तियां हैं। लोहे का चुंबक के प्रति आकर्षण, जड़ जगत् में विद्यमान आकर्षण का एक महत्त्व-पूर्ण उदाहरण है। प्रेम के वे रूप निम्नतम श्रेणी के हैं, क्योंकि इस समय चेतना अत्यंत अविकसित रहती है। चेतना की अवस्था की प्राथमिकता इन रूपोंको नितान्त सीमित रखती है।

पशु-जगत् में यह प्रेम अधिक स्पष्ट हो जाता है; और वह आस-पास की विभिन्न वस्तुओं की ओर निर्दिष्ट सबोध प्रवृत्तियों (Conscious impulses) का रूप धारण करता है। यह प्रेम नैसर्गिक प्रेरणात्मक (Instinctive) होता है; और वह उपयुक्त पदार्थों को स्वायत्त बनाकर, उनके द्वारा, विभिन्न इच्छाओं की तृप्ति करने के रूपमें प्रकट होता है। जब शेर हरिण को भक्षण करना चाहता है, तो वह एक सच्चे ही अर्थ में उससे प्रेम करता है। इस अवस्था में, कामाकर्षण (sex-attraction) प्रेम का एक दूसरा रूप है। पशुओं में जो प्रेम दिखाई देता है, उसमें एक बात समान रूपसे पायी जाती है, और वह यह है, कि वे सभी प्रेम की वस्तु के द्वारा, अपनी कोई न कोई शारीरिक प्रवृत्ति या इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं।

पशु-जगत्में प्रेम।

समस्त निम्न कोटि के प्रेम की अपेक्षा, मानवीय प्रेम अति उच्चतर है, क्योंकि मनुष्यों को पूर्ण रूपसे विकसित चेतना

प्राप्त है । यद्यपि मानवीय प्रेम निम्नतर उपमानवीय (Sub-human) प्रेम के रूपों से अविच्छिन्न है, तथापि वह एक तरह उनसे भिन्न है । क्योंकि अब उसकी क्रियाएं एक नवीन तत्त्व अर्थात् बुद्धि के साथ साथ चलती हैं । कभी कभी, मानवीय प्रेम बुद्धि से विश्लिष्ट (Divorced) शक्तिके रूपमें प्रगट होता हुआ, बुद्धि से समानान्तर होकर गतिशील होता है । कभी कभी, वह बुद्धिसे संमिश्रित शक्ति के रूपमें व्यक्त होता है; और बुद्धि से उसका संघर्ष होने लग जाता है । और अंत में, वह बुद्धि के साथ एक सुव्यवस्थित एकता का अवयव बनकर व्यक्त होता है । **इस अंतिम अवस्था में, प्रेम तथा बुद्धि समभार हो जाते हैं; तथा एक संपूर्ण एकता में उन दोनों का सायुज्य हो जाता है ।**

मानवीय प्रेम को बुद्धि के एक नए तत्त्व के अनुसार व्यवस्थित होना पडता है ।

प्रेम और बुद्धि में तीन प्रकारके मेल संभव हैं। पहले प्रकार के मेल में, विचारका क्षेत्र और प्रेमका क्षेत्र, एक दूसरे से जितना हो सकता है उतना अलग और दूर रखा जाता है। अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में, विचार की पहुंच बिलकुल असंभव हो जाती है; और विचार का वस्तुओं तक प्रेम पहुंच नहीं पाता। आत्मा के इन दो भागों में, पूर्ण पृथकत्व सच पूछो तो कदापि संभव नहीं है; किंतु जब प्रेम और बुद्धि की बारी बारीसे अलग अलग पर्याय क्रिया होती है, (और जब वे दो

प्रेम और बुद्धि के तीन प्रकार के मेल ।

प्रधानता में डांवाडोल होती रहती हैं) तब प्रेम ऐसा होता है, जो बुद्धि से उद्दीप्त नहीं रहता, और बुद्धि ऐसी होती हैं, जो प्रेम से उल्लसित नहीं रहती। दूसरे प्रकार के मेल में, प्रेम और बुद्धि की क्रिया, साथ-साथ होती है, किंतु वे समस्वर होकर कार्य नहीं करते। यद्यपि उनकी इस विषमता या संघर्ष से उलझन उत्पन्न हो जाती है, तो भी वह विकास की एक आवश्यक स्थिति है, जो एक ऐसी उच्चतर अवस्था को जन्म देती है, जिसमें प्रेम और बुद्धि के बीच समन्वय की स्थापना आरंभ होती है। **तीसरे प्रकार के मेल में, प्रेम और बुद्धि के बीच में, पूर्ण रूप से समन्वय स्थापित हो जाता हैं; और परिणामतः प्रेम तथा बुद्धि दोनों के दोनों बिलकुल ऐसे परिवर्तित हो जाते हैं, कि वे शीघ्राति शीघ्र एक नवीन प्रकार की चेतना को जन्म देते हैं, जिसे (साधारण मानवीय चेतना की तुलना में,) अति चेतना या लोकोत्तर चेतना** (Super consciousness) **कहना अत्यंत श्रेयस्कर होगा।**

मानवीय प्रेम असंख्य इच्छासंपन्न आहंकारिक चेतना (Ego-consciousness) के सांचे में ढलकर प्रकाशित होता है। इच्छाओं के कारण, प्रेम नाना प्रकारसे रंग-बिरंग हो जाता है। जिस प्रकार, चारुदर्शक (Kaledoscope) को घुमाने से असंख्य नमूने देख पडते है, जो कि सरल-सरल तत्त्वों के विभिन्न संमिश्रण से ही तैयार किये जाते है, उसी प्रकार अंतःकरण के तत्त्वों के विलक्षण मेल के कारण हमें

प्रेम के नाना गुण-भेद

प्रेम के प्रायः असंख्य गुण-भेद दिखाई देते हैं। और जिस प्रकार फूलों के रंग के असंख्य भेद है, उसी प्रकार मानवीय प्रेम के भी नाना प्रकार के सूक्ष्म भेद है।

मानवीय प्रेम मोह, वासना, लोभ, क्रोध और घृणा जैसे अनेक अवरोधक तत्त्वों से घिर जाता है। एक प्रकार से ये अवरोधक तत्त्व भी, या तो निम्नश्रेणी के प्रेम के ही रूप हैं। अथवा उसके अनिवार्य पार्श्वपरिणाम है। मोह, काम और लोभ प्रेम के विकृत एवं निम्नतर रूप कहे जा सकते है। मोह में, मनुष्य भोग्य वस्तु पर आसक्त हो जाता है; काम में, वह भोग्य वस्तु से संवेदना की लालसा रखता है, और लोभ में, वह भोग्य वस्तुपर अपना अधिकार जमाना चाहता है। निम्नतर प्रेम के इन तीन रूपों में से लोभ विचित्र है। आरंभिक भोग्य पदार्थ से, उसकी प्राप्ति के साधनों पर विस्तृत होने की उसकी प्रवृत्ति होती है। तदनुसार, मनुष्य धन, सत्ता, या कीर्ति के लोभी हो जाते हैं, क्योंकि वे इन साधनों के द्वारा, अपने विभिन्न वांछित भोग्य विषयों पर अधिकार जमाना चाहते हैं। जब प्रेम के ये निम्नतर रूप अवरुद्ध हो जाते हैं, या उनके अवरोध का खतरा उपस्थित हो जाता है, तब क्रोध और ईर्ष्या का उदय होता है।

प्रेम की निम्नतर श्रेणियाँ

प्रेम के ये निम्नतर रूप पवित्र प्रेम के प्रवाह के प्रतिरोधक हैं। निम्नतर प्रेम के इन बाधक तथा विकारपूर्ण रूपसे

मुक्त हुए बिना, प्रेम की धारा निर्मल तथा शांत कदापि नहीं हो सकती। **निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।** यदि चेतना स्वनिर्मित गर्त में फंस जाती है, तो फिर उससे निकलकर उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इस भांति, प्रेम का निम्नतर रूप प्रेम के उच्चतर रूप के विकास में विघ्न डालता है। अतः प्रेम के उच्चतर रूप के मुक्त प्रवाह के लिए उसका निम्नतर रूप त्यागना आवश्यक है।

निम्नतर उच्चतर का शत्रु है।

विवेक से निरंतर काम लेनेपर, निम्नतर प्रेम के आवरण से, उच्चतर प्रेम का मुक्त होना सरल हो जाता है। अतः, प्रेम को मोह, लोभ और क्रोध के बाधक तत्त्वों से, सावधानी के साथ, छांटकर निकालना पड़ता है। मोह में, मनुष्य भोग्य विषय के कल्पित आकर्षण के जादू का निष्क्रिय शिकार हो जाता है; किंतु प्रेम में, प्रेम के विषय का सक्रिय रूप से वास्तविक मूल्य आंकता है, तथा उसके गुणों को ग्रहण करता है।

प्रेम तथा मोह।

प्रेम काम से भी भिन्न है। कामेच्छा में, इंद्रियविषयपर अवलंबन है; और परिणामतः आत्मा को तत्संबंधी आध्यात्मिक पराधीनता महसूस होती रहती है। किंतु प्रेम रूप के अंतर्भूत सत्य से आत्मा का सीधा और समतायुक्त संबंध कराता है। अतः, कामेच्छा भारस्वरूप प्रतीत होती है, किंतु प्रेम हलका लगता है। कामेच्छा जीवन को संकुचित बनाती है; और प्रेम आत्मीयता का विस्तार करता है।

प्रेम और कामेच्छा

एक आत्मा को प्रेम करना मानो उसके जीवन को तुम्हारे जीवन से जोड़ना है; प्रेम में तुम्हारा जीवन वस्तुतः विस्तृत हो जाता है; और तुम दो केंद्रों में रहने लग जाते हो। यदि तुम सारे संसार को प्रेम करते हो, तो तुम प्रतिनिधिक अर्थ से सारे संसार में ही रहते हो। किंतु कामेच्छा में जीवन का क्षय होता चला जाता है; और एक रूप (जिसे तुम दूसरा समझते हो) पर पूर्णतः आश्रित होने का भाव सदा मौजूद रहता है। इस प्रकार, कामेच्छा में, पृथकत्व और यन्त्रणा का आधिक्य होता है; किंतु प्रेम में एकता और आनन्द का भाव बना रहता है। कामेच्छा इंद्रियों की तृष्णा है, किंतु प्रेम आत्मा की अभिव्यक्ति है। वासना तृप्ति खोजती फिरती है; किंतु प्रेम तृप्ति का अनुभव करता है। वासना में क्षोभ है; किंतु प्रेम में शांति है।

प्रेम लोभ से भी बिलकुल भिन्न है। लोभ अपने तमाम स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में एक प्रकार की ग्रहण-लोलुपता है। वह स्थूल पदार्थों तथा मनुष्यों को तथा सूक्ष्म और अमूर्त वस्तुओं, जैसे कीर्ति और सत्ता को भी, अधीनस्थ करना चाहता है। प्रेम में, किसी दूसरे मनुष्य को बलपूर्वक अपने वैयक्तिक जीवन की अधीनता में लाने का सवाल ही नहीं उठता। और वह मुक्त एवं निर्मायक गतिसे प्रवाहित होकर, प्रिय के अंतःकरण को संजीवित तथा पुनःपरिपूरित कर देता है। और वह अपने लिए कोई अपेक्षा नहीं करता। यहां यह विरोधाभास (Paradox) है

प्रेम और लोभ।

कि लोभ, जो अन्य पदार्थपर आत्मा का अधिकार जमाना चाहता है, यथार्थ में आत्मा को ही वस्तु के अधीनस्त कर देता है; और प्रेम, जो आत्मा को प्रिय के लिए समर्पित करना चाहता है, वस्तुतः प्रिय को प्रेमी के अस्तित्व में सम्मिलित करने में सफल होता है। **लोभ में, आत्मा वस्तुपर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है; किंतु वह स्वयं उस वस्तु के आधिपत्य के नीचे आ जाता है; और प्रेम में, आत्मा अपने आपको पूर्ण रूपसे प्रिय को समर्पित कर देता है; किंतु इस समर्पण के द्वारा वह प्रिय को अपने अस्तित्व में समाविष्ट कर लेता है।**

मोह, कामेच्छा तथा लोभ के मेलसे एक आध्यात्मिक रोग का जन्म होता है। क्रोध और मत्सर इस रोग के बाह्य लक्षण हैं, जो रोग को और अधिक उग्र बना देते हैं। प्रेम इन विकारों से सर्वथा भिन्न है। वह मानों आध्यात्मिक पूर्णता की प्रफुल्लता है। मानवीय प्रेम इन विकारोंके कारण इतना अधि–ग्रस्त हो जाता है, कि अंदर से पवित्र प्रेम का सहज रूपसे प्रस्फुटित होना असंभव हो जाता है। साधक को पवित्र प्रेम सदैव उपहार के रूपमें प्राप्त होता है। **साधक के हृदय में पवित्र प्रेम सद्गुरु के अनुग्रह के प्रतिसंवादि के रूपमें अवतरित होता है।** जब सद्गुरु अनुग्रह से प्रेरित होकर, साधक को पहले पवित्र प्रेम का उपहार भेंट करता है, तब वह कुछ समय तक चेतना

पवित्र प्रेम अनुग्रह के द्वारा जागृत किया जाता है।

में सुप्तावस्था में निवास करता है, जैसे उर्वरा धरती में बीज निवास करता है फिर वह योग्य समय आनेपर, पौधे की भांति उगता है और तदतन्तर पूर्ण विकसित वृक्ष की भांति फूलता फलता है।

अनुग्रह की आध्यात्मिक तैयारी।

साधक की प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी गुरु के अनुग्रह के अवरोहण की शर्त है। जब तक साधक के आंतरिक स्वभाव में कुछ दिव्य गुणों का विकास नहीं हो जाता, तब तक गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, उसकी प्राथमिक आध्यात्मिक तैयारी पूरी नहीं हुई रहती। जब मनुष्य परोक्ष में दूसरों की बुराई करने की आदत छोड देता है, और जब वह अन्य लोगों के ऐबों को छोडकर, उनके सद्गुणों का ही चिंतन करता है, और जब वह परम सहिष्णुता का बर्ताव करने में सफल होता है, तथा जब वह खुद की हानि सहकर भी, और की भलाई चाहता है, तो, समझना चाहिए कि साधक सद्गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के योग्य हो चुका है। साधक की इस आध्यात्मिक तैयारी की सबसे बडी बाधा है चिंता। और जब महान प्रयत्न के बलपर, यह बाधा दूर हो जाती है, तो उन दिव्य गुणों के लिए रास्ता साफ हो जाता है, जिनके विकसित होनेपर, शिष्य की आध्यात्मिक तैयारी पूर्ण हो जाती है। **ज्योंही शिष्य तैयार होता है, त्योंही गुरु का अनुग्रह अवतरित होता है, क्योंकि गुरु जो, दैवी**

प्रेम का पारावार होता है, उस आत्मा की तलाश में रहता है, जिसमें उसका अनुग्रह फलीभूत हो सकता हो।

जिस प्रकार का प्रेम गुरु के अनुग्रह के द्वारा जागृत किया जाता है, वह विरल है या, कहना चाहिए, एक विशेषाधिकार है। वह माता, जो अपनी संतान के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने एवं प्राण देने के लिए तैयार रहती है, तथा वह वीर, जो, अपने देश के वास्ते अपना प्राणोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहता है, निस्संदेह महान है; किंतु सद्गुरु के द्वारा जागृत किए जाने वाले पवित्र प्रेम की मिठास को वे नहीं जानते। गिरी-गह्वरों में बैठे हुए घोर समाधि में पूर्णतः मग्न रहने वाले बड़े बड़े दाढ़ी-धारी योगियों में भी इस बहुमूल्य प्रेम का अभाव हुआ करता है।

पवित्र प्रेम दुर्लभ है।

अन्य साधनों और साधनाओं की अपेक्षा, गुरु के अनुग्रह से साधक के हृदय में जागृत किया जानेवाला पवित्र प्रेम अधिक मूल्यवान है। अन्य साधन-साधनाओं से जो लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं, वे सब न केवल इस पवित्र प्रेम में समाविष्ट रहते हैं; प्रत्युत अन्य विधियों की अपेक्षा, इस में साधक को लक्ष्य की ओर ले जाने की अधिक क्षमता रहती है। जब यह प्रेम पैदा होता है, तो साधक को केवल एक इच्छा रहती है; और वह है, दैवी प्रियतमसे मिलकर एक होने की इच्छा।

पवित्र प्रेम सर्वश्रेष्ठ अनुशासन है।

अन्य इच्छाओं से चेतना के हटकर वापस खिंच आनेसे, अनंत पवित्रता की प्राप्ति होती है। अतः, पवित्रता उत्पन्न करने में गुरुप्रदत्त प्रेम की भांति सामर्थ्यशाली अन्य कोई तरीका नहीं है। साधक अपने दैवी प्रियतम को अपना सर्वस्व दे देने के लिए सदा तैयार रहता है। और उसके लिए कैसा भी त्याग वह कर सकता है। वह अपनी खुशी की जरा भी चिंता नहीं करता। वह अन्य किसी वस्तु की चाह नहीं करता। उसके समस्त विचार अपने दिव्य प्रियतमपर केंद्रित हो जाते हैं। **और इस निरंतर वर्धमान प्रेम की प्रचंड तीव्रता के कारण उसके व्यष्टिभाव के बंधन पूर्णतः छिन्न हो जाते हैं; और वह अपने प्रियतम से युक्त हो जाता है।** यह प्रेम की सिद्धि अथवा संपूर्णता है। जब प्रेम इस प्रकार फलीभूत हो जाता है, तो वह दिव्य हो जाता है।

मानवीय प्रेम की उपेक्षा दैवी प्रेम उच्चतर है।

गुण में दिव्य प्रेम मानवीय प्रेमसे भिन्न है। मानवीय प्रेम एक के अनेक रूपों के लिए होता है; और दैवी प्रेम अनेक में सन्निहित एक तत्त्व के लिये होता है। मानवीय प्रेम न जाने कितनी गुत्थियाँ और ग्रन्थियाँ पैदा कर देता है; किंतु दैवी प्रेमसे पूर्णता और स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। **दैवी प्रेम में व्यक्तिपर और व्यक्ति-निरपेक्ष भाग बिलकुल समभार होते हैं।** किन्तु मानवीय प्रेम में कभी व्यक्तिगत भाग (Personal aspect) का प्राधान्य

होता है; तो कभी व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonal) का। मानवीय प्रेम में जब व्यक्तिपर भावना प्रबल हो जाती है, तो मनुष्य इतर रूपों के अंतःस्थ मूल्य की ओर से अपनी आंखें मूंद लेते हैं; और जब कर्तव्य की भावना में उसका प्रेम व्यक्तिनिरपेक्ष होता है, तो वह बहुधा शुष्क, कठोर तथा यंत्र-तुल्य बन जाता है। कर्तव्य की भावना आचरण की एक बाहरी बला के रूप में आती है; किंतु दैवी प्रेम में अबाध स्वतंत्रता तथा असीम सहजता है। मानवीय प्रेम अपने व्यक्तिपर तथा व्यक्तिनिरपेक्ष रूपों में सीमित ही रहता है; किंतु उसके वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक रूपों के सायुज्य की वजह, दैवी, प्रेम की अभिव्यक्ति तथा सत्ता अनन्त हो जाती है।

सर्वोत्कृष्ट कोटि का मानवीय प्रेम भी, वैयक्तिक स्वभाव के कारण, परिमित ही रहता है। यह वैयक्तिक स्वभाव सातवीं भूमिका तक बना रहता है; किंतु **वैयक्तिक मन के लोप के पश्चात् ही, दैवी प्रेम आविर्भूत होता है।** अतः, यह वैयक्तिकता की शृंखला से मुक्त रहता है। मानवीय प्रेम म, प्रेमी और प्रियतम का द्वैत बना रहता है, किंतु दैवी प्रेम में प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं। इस अवस्था में, साधक द्वैत की सीमा लांघकर ईश्वर से युक्त हो जाता है, क्योंकि दैवी प्रेम ईश्वर ही है। **जब प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं तो यही मानों इति और अथ है।**

दैवी प्रेम में प्रेमी और प्रियतम मिलकर एक हो जाते हैं।

प्रेम के ही लिए, समस्त सृष्टि आविर्भूत हुई है; और प्रेम ही के लिए, वह चल रही है। ईश्वर भ्रम के क्षेत्र में इसलिए अवतीर्ण होता है, कि प्रेमी और प्रियतम के दृश्यमान द्वैत की सहायता से ही, वह अपनी दिव्यता की अंततोगत्वा सज्ञान अनुभूति प्राप्त करें। द्वैत की खींचतान के द्वारा ही, प्रेम का विकास संवर्धित होता है। प्रेम की क्रीडा को जारी रखने के ही लिए, ईश्वर नाना आत्माओं का भासमान विभिन्नत्व धारण करता है। नाना नामरूपात्मक जीव ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप हैं; या यों कहे, कि स्वयं ईश्वर ही दैवी प्रेमी और दैवी प्रियतम दोनों बनता है। प्रियतम के रूपमें वह प्रेमी के लिए पूज्य और आराध्य है; और दैवी प्रेमी के रूपमें, ईश्वर जीवो को परम उद्धारक है, जो उन्हें अपनी ओर खींचता रहता है। इस प्रकार, यद्यपि यह सारा द्वैतमय संसार केवल एक भ्रम है, तथापि इस भ्रमका उद्गम एक महान् अभिप्राय की सिद्धि के लिए हुआ है।

प्रेम के लिए सृष्टि की रचना हुई है।

प्रेम इस अनेकता-युक्त जगत् में ईश्वर की एकता का प्रतिबिंब है। वह अखिल सृष्टि की शोभा है। जीवन में यदि प्रेम न रहे, तो संसार के सकल मनुष्य एक दूसरे से बहिस्थित हो जाय; और ऐसे प्रेमहीन संसार में यदि किसी प्रकार का संबंध संभव हो सकता है, तो वह अर्थहीन या यंत्रतुल्य ही होगा! प्रेम के ही कारण व्यक्ति

प्रेम की संचालक शक्ति

और व्यक्ति के बीच संबंध महत्वपूर्ण बन जाता है, और प्रेम ही द्वैतमय संसार की घटनाओं को अर्थ और मूल्य प्रदान करता है। किंतु **जहां प्रेम द्वैतके संसार को सार प्रदान करनेवाला है, वहां वह साथ ही साथ, द्वैत के लिए एक खुली चुनौती भी है।** ज्यों ज्यों प्रेम प्रबल होता जाता है, त्यों त्यों वह निर्णायक विह्वलता की उत्पत्ति करता है; और वह उस आध्यात्मिक गतिको संचालित करनेवाली संचालक शक्ति बन जाता है, जो अंत में चेतना को उसके स्वरूप की आरंभिक एकता का ज्ञान कराती है।

पथकी विभिन्न अवस्थाएँ

सभी मनुष्यों को बद्धता की स्थिति पार करनी पड़ती है; किंतु इस बंधन-कालको जीवन के विकास का एक अर्थ-रहित आख्यान नहीं मानना चाहिए। पिंजडे के भीतर बंद रहनेका अनुभव यदि प्राप्त नहीं किया जायगा, तो फिर स्वतंत्रता का महत्व कैसे समझा जा सकता है ? यदि मछली अपने जीवन की पूरी अवधि के भीतर एक बार भी पानी से बाहर न निकले तो उसे पानी का मूल्य आंकने का मौका ही मिलेगा। जन्म से लेकर मृत्यु तक, वह पानी के ही भीतर रहे तो यह समझने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता, कि उसके जीवन के लिए पानी का क्या महत्व है। किंतु यदि वह एक क्षण मात्र लिए पानी से बाहर निकाल दी जाय, तो वह पानी के लिये तडफती है; और इस तडफने के अनुभव से, उसे पानी का महत्व मालूम हो जाता है। इसी प्रकार यदि जीवन यहां से लेकर वहां तक, बिलकुल स्वतंत्र होता, और वह यह न जानता कि बंधन क्या चीज है, तो वह स्वतंत्रता का महता को समझने के मौके से हाथ धो बैठता!

बंधन मुक्ति के महत्व को बढ़ता है।

आध्यात्मिक बद्धता का अनुभव और उससे मुक्त

होने की तीव्र इच्छा,—दोनों आनेवाली मुक्ति के आनन्दास्वाद की तैयारी हैं ।

पानी से वियुक्त मछली, जिस प्रकार पानी में जाने के लिए व्याकुल हो जाती है, उसी प्रकार, साधक, जिसे लक्ष्यका बोध हो गया है, ईश्वर से मिलने के लिये विह्वल रहता है । यदि सच पूछा जाय, तो जिस समय से प्रत्येक जीव अज्ञान के आवरण के कारण ईश्वर से वियुक्त होता है, ठीक उसी समय से, वह उससे मिलने के लिए ललायित रहता है । किंतु उसकी यह ललसा सज्ञान नहीं होती । सज्ञान लालसा के उत्पन्न होनेपर ही साधक पथमें प्रविष्ट होता है । मनुष्य अज्ञान से उसी प्रकार अभ्यस्त हो जाता है, जिस प्रकार रेलगाडीपर बैठा हुआ मनुष्य उस सुरंग के अंधःकार से अभ्यस्त हो जाता है, जिसके भीतर से रेल-गाडी निकलती रहती है । किंतु उस अंधःकारके समय भी, उसे एक निश्चित आरामशून्यता का अनुभव होता है, तथा उसे एक अस्पष्ट एवं अवर्णनीय अस्थिरता महसूस होती है। उसे ऐसा लगता रहता है, मानो कुछ खो गया हो। शुरू से ही उसे ऐसा प्रतीत होता है, कि इस खो गये कुछ का, उसके लिए अत्यंत महत्व है। घोर अज्ञान की दशा में, इस जगत् के रंगबिरंगे भौतिक पदार्थ ही वह "खो गया हुआ कुछ" समझ लिये जाते हैं। किंतु जब इस संसार का अनुभव

गंभीर सत्य की सज्ञान लालसा से पथ का प्रारंभ होता है ।

काफी प्रौढ हो जाता है, तब उन पदार्थों के द्वारा, बारबार प्रतारित और प्रवंचित होनेपर, जब बारबार आंखें खुलती हैं, और इनके संबंध में कल्पित भ्रम दूर होता है, तब मनुष्य उस खोयी हुई वस्तु को पाने के सही रास्ते को पकड़ता है। ठीक उस क्षण से, **वह नित्य परिवर्तनशील नामरूपों को पाने की अपेक्षा, किसी अन्य गंभीरतर सत्य की खोज करता है।** इस क्षण को साधक की प्रथम दीक्षा या प्रथम पथ—प्रवेश कहना अनुचित न होगा। पथप्रवेश के क्षण से ही ईश्वर या अपने मौलिक स्वरूप, जिससे वह नियुक्त हो गया है, उसे युक्त होने की आकांक्षा स्पष्ट और तीव्र हो जाती है। जिस प्रकार रेल में बैठा हुआ आदमी, सुरंग के दूसरे छोर से प्रकाश की एक रेखा को देखते ही प्रकाश की प्रबल लालसा करने लग जाता है, उसी प्रकार, जीवन के लक्ष्य की झलक पा चुकनेवाला मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र वेग से लक्ष्य की ओर बढने की लालसा करता है।

आध्यात्मिक पथपर छः स्टेशन हैं, और सातवां स्टेशन आंतिम स्टेशन या आंतिम लक्ष्य हैं। बीच का प्रत्येक स्टेशन मानो **उस आन्तिम लक्ष्य संबंधी कालपनिक पूर्वसूचना** (Imaginative anticipation) हैं। मनुष्य को ईश्वर से नियुक्त करनेवाला आवरण मिथ्या कल्पना से बुना गया है। और इस मिथ्या कल्पना से बुने गये आवरण की मानो अनेक

अज्ञान के अनेकतर आवरण का जीर्ण होना

तहें हैं। पथमें पदार्पण करने के पूर्व, मनुष्य, कल्पना के इस अनेक तहवाले आवरण से, आच्छादित रहता है। परिणामतः वह अपने को एक पृथक् और आछिन्न सान्त व्यक्ति समझने के सिवा अन्य किसी बात की कल्पना तक नहीं करता। अनेक-स्तर-पूर्ण मिथ्या कल्पना की प्रक्रिया के कारण, उसकी अहं-वृत्ति घनीभूत हो जाती है; और ईश्वर-दर्शन की सज्ञान लालसा के द्वारा, कल्पना की दीर्घकालीन मिथ्या क्रिया से निर्मित अहंकार की इमारत को पहला धक्का लगता है, जिससे वह हिल उठती है। **आध्यात्मिक पथपर आगे बढ़ने का अर्थ है, कल्पना की मिथ्या प्रक्रिया, के परिणामों को अन्यथा करना, या अतिक्रमणीय पार्थक्य तथा अलंघ्य वियोग का भाव पैदा करनेवाले अज्ञानावरण की तहों को, एक एक करके निकालकर, फेंकते जाना।** अबतक मनुष्य अपने पृथक् अस्तित्व से दृढतापूर्वक चिपका रहा, और घोर अज्ञान के दुर्धर्ष प्राप्ति के भीतर, उसे उसने सुरक्षित रखा; किंतु अब मानो महत्तर सत्य के साथ वह एक प्रकार का वार्तालाप आरंभ करता है। साथ से उसका वार्तालाप ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों उसका अज्ञानावरण पतला होता जाता है, और पार्थक्य तथा अहंभाव के क्रमशः जीर्ण होने के साथ ही, उसे श्रेष्ठतर सत्य से सायुज्य की अधिकाधिक गहरी भावना का अनुभव होता जाता है।

कल्पना की भांति भांति की उडान के सबब, दूरी के भाव का जन्म होता है, अतः दूरी (Aloofness) के स्वनिर्मित

भाव को दूर करना और सत्य से मिलकर एक होना, कल्पना की मिथ्या क्रिया की प्रायावृत्ति के द्वारा संभव है। अर्थात्

कल्पना की मिथ्या क्रिया की क्रमिक प्रायावृत्ति

जिस क्रम से मिथ्या कल्पना ने अज्ञान का ताना-बाना बुना है, उसी क्रम से वह उधेड़ा जा सकता है। कल्पना से पूर्णतः मुक्त होना गाढ़ी निद्रा से जागने के समान है, और मिथ्या कल्पना से मुक्ति पाने की क्रमिक क्रिया की विभिन्न अवस्थाएँ, उन सपनों के तुल्य हैं, जो गाढ़ी निद्रा और पूर्ण जागृति के बीच मानो एक पुल कायम करते हैं। मिथ्या कल्पना की विभिन्न क्रियाओं से मुक्त होने की विधि क्रमिक है। और उसकी सात अवस्थाएँ हैं। कल्पना के आवरण की एक तह को निकाल फेंकना, निश्चय ही सत्य प्रकाश के अधिक समीप आना है, किंतु वह सत्य से युक्त होना नहीं है। क्यों कि उससे केवल इतना ही अर्थ है, कि अपेक्षाकृत कम मिथ्या कल्पना को ग्रहण करके, अधिक मिथ्या कल्पना को त्यागना। अहंवृत्तिजन्य दूरी के भाव के जैसे विभिन्न अंश हैं; उसी के अनुसार कल्पना के मिथ्यात्व के विभिन्न अंश हैं। **मिथ्या कल्पना से मुक्ति पाने की क्रिया की प्रत्येक अवस्था अहंकार की निश्चित जीर्णता है, किंतु सातवीं अवस्था में पहुंचने के पहले, बीच की अवस्थाओं में, एक के बाद दूसरी में पहुंचना, मानो कल्पना को एक उडान को छोडकर दूसरी उडान को ग्रहण करना है।** सातवीं अवस्था में पहुंचे बिना कल्पना की समाप्ति नहीं होती।

कल्पना की विभिन्न उडानों से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। **कल्पना के बदलने से आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल आत्मा-संबंधी धारणा में परिवर्तन होता है।** अनुमान करो कि दिवास्वप्न (daydream) में, या काल्पनिक मनःसृष्टि में, तुम कल्पना करते हो, कि तुम चीन में हो, यद्यपि तुम्हारा शरीर वस्तुतः हिंदुस्तान में है। जब तुम्हारी काल्पनिक मनःसृष्टि माला समाप्त होती है, तब तुम्हें विदित होता है, कि तुम्हारा शरीर यथार्थतः चीन में नहीं है, किंतु हिंदुस्तान में है। मानसिक (Subjective) दृष्टिकोण से यह चीन से हिंदुस्तान लौटने के समान है। इसी प्रकार, देह से तादात्म्य का क्रमशः कम होना तथा सर्वान्तर्यामी आत्मा से तादात्म्य का क्रमशः बढना, पथ पर यथार्थतः यात्रा करने के तुल्य है, यद्यपि सच पूछा जाय तो पथ के बीच की विभिन्न अवस्थाएं कल्पना क्रिया की ही सृष्टियाँ हैं।

पथ के बीच की विभिन्न अवस्थाएं कल्पना के रूप हैं।

इस भांति, आरोहण की छः अवस्थाएं कल्पना के ही अन्तर्गत हैं। किंतु **प्रत्येक अवस्था में, दूरी** (Aloofness) **के भाव के कम होने तथा सहानतर सत्य से सायुज्य प्राप्त करने का भाव, इतना स्पष्ट और निश्चित होता है, कि मनुष्य को बहुधा आत्मज्ञान का संभ्रम** (Pseudo-sense of

आत्मज्ञान का मिथ्या-संभ्रम

Realisation) **हो जाता है।** जिस प्रकार, पर्वत चढने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य मार्ग में गहरी दरी को देखकर मुग्ध हो जाता है, और मिथ्या यह सोचने लगता है, कि वह लक्ष्य-स्थान में पहुंच गया है, उसी प्रकार, साधक भी पथ की मध्य-वर्तिनी विभिन्न अवस्थाओं को ही अंतिम लक्ष्य–स्थान समझने की गलती कर जाता है। किंतु, जिस भांति, पर्वत के सर्वोच्च शृंग पर चढने की सच्ची अभिलाषा रखनेवाला मनुष्य थोडी ही देर के बाद जान जाता है कि दरी तो यथार्थ में, पार करने के लिए है, उसी प्रकार, साधक को भी, देर या अवसर से मालूम होता है, कि बीच की यह अवस्था दर असल पार करने के लिए ही है। **मध्यस्थित अवस्थाओं में प्रतीत होनेवाला आत्म–ज्ञान का आत्म-संभ्रम** (Self-delusion) **मनुष्य के नींद की अवस्था में यह सपनाने के तुल्य है, कि वह नींद से जग गया है, यद्यपि यथार्थ में वह जगा नहीं है।** यथार्थ में जगने पर, उसे बोध होता है, कि उसे जगने के पहले जो भाव हुआ, वह वास्तव में एक सपना ही था।

मानसिक स्थितियाँ तथा भूमिकाएं

उन्नति की प्रत्येक विशिष्ट अवस्था चेतना की एक निश्चित स्थिति है: और चेतना की एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुंचना, और आंतरिक भूमिकाओं को लांघना साथ ही साथ होते हैं। सातवीं भूमिका, जहां यात्रा समाप्त हो जाती है, उसमें पहुंचने के पहले, बीच की छः भूमिकाएं और चेतना की छः

स्थितियां पार करनी पड़ती हैं। सातवीं भूमिका में पहुंचने पर, ब्राह्मी स्थिति (God-state) प्राप्त होती है। प्रत्येक भूमिका रेल्वे स्टेशन के तुल्य है, जहां थोडी देर रेल-गाड़ी ठहरती है; और चेतना की स्थिति स्टेशन में उतरकर यात्री के चलने-फिरने के सदृश है।

समाधिका स्वरूप (इंष्ट प्राक)

चेतना की नई भूमिका में प्रविष्ट होने के पश्चात्, मनुष्य को उस भूमिका का स्वतंत्रतपूर्वक अनुभव करने में कुछ समय लगता है। चूँ कि मानसिक दशा में आमूल परिवर्तन हो जाता है, अतः उसे मानसिक क्रिया की एक प्रकार की मंदता का अनुभव होता है, जिसे समाधि कहते हैं। जब यात्री एक नयी भूमिका में प्रविष्ट होता है, तो पहले वह उस भूमिका में निमग्न हो जाता है। तत्पश्चात् वह उस भूमिका में विद्यमान चेतना की एक विशिष्ट स्थिति का अनुभव करता है। जिस प्रकार, यात्री यात्राजन्य तान के कारण क्लांत हो जाता है, और कभी कभी उसे इस तान की वजह नींद आ जाती है, उसी प्रकार चेतना, जो श्रमपूर्वक चढकर नयी भूमिका में पहुंचती है, थक जाती है, और उसकी क्रिया शिथिल या मंद पड जाती है। **यह मन का शैथिल्य नींद के तुल्य है।** किंतु साथ ही, समाधि और नींद में आकाश पाताल का अंतर है। **नींद में मनुष्य पूर्णतः अचेतन रहता है। किंतु समाधि में आनंद, प्रकाश तथा शक्ति की चेतना**

विद्यमान रहती है; और शरीर तथा परिस्थिति की चेतना नहीं रहती है। समाधि की थोड़े समय तक रहनेवाली स्थिरता के पश्चात्, मन नयी भूमिका में कार्य करने लग जाता है। और वह चेतना की एक ऐसी नयी स्थिति का अनुभव करता है, जो उस स्थिति से बिलकुल भिन्न है, जिसे वह पीछे छोड़ आया है।

पथ की प्रत्येक अवस्था अहंकारिक जीवन का ह्रास है।

जब साधक नयी भूमिका में प्रविष्ट होता है, तो वह उसमें मग्न हो जाता है; और उसकी मानसिक क्रिया के मंद होने के साथ साथ, वह अपने अहंकारिक जीवन (Ego-life) का भी निश्चित ह्रास अनुभव करता है। अहंकारिक जीवन का यह ह्रास, सातवीं भूमिका में के अहंकार के अंतिम मूलोच्छेद से भिन्न है। अहंकार के अंतिम मूलोच्छेद की भांति, मध्यस्थित छः भूमिकाओं में होनेवाला अहंकार का क्रमिक ह्रास भी, सापेक्ष महत्व के कारण, विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। सूफी आध्यात्मिक परंपरा में अहंकार का अंतिम मूलोच्छेद 'फना-फिल्लाह' कहलाता है। और द्वैतयुक्त छः भूमिकाओं की विभिन्न समाधियां भी, फना के विभिन्न रूप मानी गई हैं, क्यों कि प्रत्येक समाधि में अहंकार का आंशिक उच्छेद होता है!

प्रत्येक फना मानो एक उच्चतर चढाव है। छः फना का चढाव पार करते करते, अंत में "फना–फिल्लाह" में पहुंच होती है। प्रत्येक फना की अपनी निजी विशेषता है। जब यात्री प्रथम भूमिका में पहुंचता है, तो वह प्रथम फना में मग्नता का अनुभव करता है। इस मग्नता से

प्रथम तीन फना

अहंकार का **आंशिक उच्छेद** होता है। यात्री अपने सीमित व्यक्तित्व को, कुछ समय के लिए, खो जाता है; और आनंद का अनुभव करता है। बहुत से यात्री, जो प्रथम भूमिका में मग्न होते हैं, सोचने लग जाते हैं; कि उन्हें ईश्वरानुभूति हो गयी है; और वे भूमिका में रुक जाते हैं। किंतु यदि यात्री भ्रम में नहीं पडता, या उसे यह मालूम हो जाता है, कि उसकी प्राप्ति उसकी यात्रा का मात्र अवस्थांतर है, तो वह आध्यात्मिक पथ पर, बढता जाता है; और दूसरी भूमिका में पहुँचता है। दुसरी भूमिका में निमग्न होना 'फना–ए–बातिली', या मिथ्या का उच्छेद कहलाता है। यात्री अब आनंद तथा असीम प्रकाश में मग्न हो जाता है। कुछ यह सोचने लग जाते हैं, कि उन्हें लक्ष्य-सिद्धि हो गयी और वे द्वितीय भूमिका में रुक जाते हैं। किंतु दूसरे जो भ्रम में नहीं पडते, ऊपर की ओर अग्रसर होते हैं; और तीसरी भूमिका में प्रवेश करते हैं। तीसरी भूमिका में मग्न होना "फना-ये-जाहेरी," या दृश्यमान का उच्छेद, कहलाता है। इस अवस्था में, यात्री को अपने शरीर तथा संसार की कई दिनों तक चेतना नहीं

रहती; और वह अनन्त शक्ति का अनुभव करता है। संसार का उसे बोध नहीं रहने के कारण, यह दैवी मूर्छा या विदेही समाधि है। इसमें, चेतना सब संसार से परावृत्त रहती है। **उसे अपनी शक्ति को व्यक्त करने का मौका नहीं मिलता।**

चौथी भूमिका के खतरे।

यदि यात्री और आगे बढता है, तो वह चौथी भूमिका में पहुचता है। चौथी भूमिका में मग्न होना "फला–ये–मला–कुती" या स्वतंत्रता की ओर ले जानेवाला उच्छेद कहलाता है। चूं कि अब यात्री ने केवल अनंत शक्ति का अनुभव करता है। किंतु इस शक्ति को व्यक्त करने के उसे अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। अतः उसे, चौथी भूमिका में, एक विचित्र प्रकार की चेतना का अनुभव होता है। वह सब कुछ जान सकता है। उदाहरणार्थ, वह यह जान सकता है, कि संसार के किसी भी भोग में स्थित कोई भी मनुष्य क्या सोच रहा है, या क्या कर रहा है। इसके सिवा अपनी शक्तियों का उपयोग करने के केवल मौके ही उसे नहीं रहते, किंतु उन्हें व्यक्त करने की और मानसिक झुकाव (Inclination) का भी वह अनुभव करता है। यदि वह इस लोभ का शिकार हुवा, तो वह अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करता चला जाता है, और चौथी भूमिका की चित्ताकर्षक शक्यताओं में, वह फंस जाता है। यही वजह है, कि चौथी भूमिका सबसे

खतरनाक भूमिका है; और उसे पार करना सबसे कठिन है। इस अवस्था में, यात्री तब तक सुरक्षित नहीं रहता और पतन का तब तक भय रहता है, जब तक वह चौथी भूमिका को लांघकर पांचवी भूमिका में पहुंच नहीं जाता।

पांचवी और छटवी भूमिकाओं के फना।

पांचवी भूमिका में मग्न होना "फना–ए–जबरुती" या सब इच्छाओं का उच्छेद, कहलाता है। यहां निम्नतर बुद्धि की अविश्रांत क्रिया पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। यात्री सामान्य तरीके से सोचता नहीं; किंतु तो भी वह अप्रत्यक्षतः दूसरे मनुष्यों के विचारों का प्रेक्षक होता है! वह देखता है, किंतु आंखों से नहीं। उसका मन अन्य लोगों के मनों से बोलता है; और उसे किसी प्रकार की न तो चिंता होती है, और न संदेह। वह आध्यात्मिक दृष्टि से, अब सुरक्षित हो गया रहता है, और पतन की संभावना से परे रहता है। किंतु तो भी इस उच्च भूमिका में स्थित कितने ही यात्री ईश्वरानुभूति के आत्मसंभ्रम (Self-delusion) में पड़ने का संवरण नहीं कर सकते हैं। आत्म-संभ्रम (Self-delusion) में, पड़कर ऐसा यात्री सोचता और कहता है, 'मै ईश्वर हूं'; और उसे मिथ्या विश्वास हो जाता है कि वह अध्यात्मिक पथ के अंतमें पहुंच गया है। किंतु, जरा आगे चलनेपर, उसे अपनी भूल मालूम हो जाती है; और वह छठ्वी भूमिका में पहुँच जाता है। यह **"फना–महाबुबी" या प्रियतम में**

जीवका उच्छेद, कहलाती है। अब यात्री, ईश्वर को उसी प्रकार प्रत्यक्षतः तथा स्पष्टतः देखता है, जिस प्रकार, एक सामान्य मनुष्य इस संसार की विभिन्न वस्तुओं को देखता है। ईश्वरका यह दर्शन तथा आनंद एक क्षण के लिए भी खंडित नहीं होता। किंतु ईश्वर या अनंत से वह युक्त नहीं हुआ रहता। यदि यात्री सातवीं भूमिका में चढ जाता है, तो वह **अंतिम निमग्नता** (Last merging) का अनुभव करता है। **इस "फना-फिल्लाह", के द्वारा यात्री अपनी पृथक सत्ता को खो देता है, और वह स्थायी रूपसे ईश्वर से युक्त हो जाता है।** वह अब ईश्वर से एक हो जाता है; और वह अपने ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी न होने का अनुभव करता है। यह सातवीं भूमिका, "फना-फिल्लाह," आध्यात्मिक पथका अंतिम गंतव्य स्थान है, तथा सभी शोध और साधना की समाप्ति है। यह सहजसमाधिया निर्विकल्प समाधि है। यह ब्रह्मावस्था की सज्ञान अनुभूति है। यही एकमात्र सच्ची जागृति है। यात्री अब विशाल कल्पनासागर के दूसरे तह पर पहुंच चुका है; और वह अनुभव करता है, कि यह अंतिम सत्य ही केवल सत्य है; और पथकी पिछली विभिन्न अवस्थाएं पूर्णतः भ्रामक थीं, तथा इसे यह अनुभव होता है वह अंतिम लक्ष्यस्थान में पहुंच गया है।

फना-फिल्लाह, या निर्विकल्प समाधि सज्ञान ईश्वरानुभूति है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति

जब निश्चित समय आता है, तब मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति उसी प्रकार स्वाभाविक रूपसे होती चली जाती है, जिस प्रकार शिशु का शरीर धीरे धीरे संवर्धित होता जाता है, और अंतमें प्रौढावस्था को प्राप्त होता हैं। पांच भौतिक शरीर की वृद्धि प्राकृतिक नियमों के अनुसार होती है, और साधक का आध्यात्मिक उत्कर्ष चेतना के रूपांतर तथा उद्धार से संबंध रखनेवाले आध्यात्मिक नियमों के अनुसार होता है। शिशु के शरीर की वृद्धि बहुत धीमी गतिसे तथा प्रायः अदृश्य रूपसे होती है; और ठीक यही बात पथ-प्रविष्ट साधक की आध्यात्मिक उन्नति के बारे में भी सच है। बच्चा यह नहीं जानता, कि इसका देह कैसा बढ रहा है। इसी प्रकार, साधक भी उस नियम से अनभिज्ञ रहता है जिसके अनुसार वह अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढता चला जाता है। वह प्रायः इतना ही जानता है, कि वह जीवन की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का रुख धारण करता है; किंतु उसे शायद ही यह मालूम

आत्म-ज्ञान की ओर उन्नति अधिकांश में धीरे-धीरे तथा अदृश्य रूप से होती है।

रहता है, कि वह किस प्रकार आत्मज्ञान की ओर उन्नति कर रहा है। तथापि, **बिना जानेही साधक अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद जयापजय, यत्न और विश्राम का बारीबारी से अनुभव करता हुआ, इस भांति आंतरिक पथ का तय करता हुआ, क्रमशः अपनी मंजिल के अधिकाधिक समीप पहुंचता चला जाता** हैं। यात्रा में कभी ऐसे क्षण आते हैं, जब उसके विचार स्पष्ट तथा इच्छाशक्ति व्यवस्थित रहती हैं; यात्रा में कभी ऐसे क्षण आते हैं, जब उसे मानसिक संघर्षों और संविलिष्टताओं का सामना करना पडता है। ये सब उसके भूतकालीन विविध संस्कारों के परिणाम हैं। साधक अपने पूर्वजन्मार्जित संस्कारों की गुत्थियों और जाटिलताओं को सुलझाता हुआ आत्मज्ञान की ओर उसी प्रकार अग्रसर होता जाता है, जिस प्रकार एक यात्री किसी घोर सघन बनके बीचसे अपना मार्ग बनाता हुआ, यात्रा करता चला जाता है।

मानवीय चेतना की तुलना उस विद्युद्विभा (flash-light) से की जा सकती है, जो वस्तुओं के अस्तित्व तथा स्वरूप को प्रकट करती है। प्रकाश से प्रकाशित होने-वाला क्षेत्र केवल उस माध्यम पर निर्भर है, जिसके द्वारा वह कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक नाव पर बैठा हुआ आदमी पानी की सतह पर कहीं भी घूम

सकता है किंतु जमीन और हवा के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में उसकी पहुंच नहीं हो सकती। चेतनारूप प्रकाश की क्रिया-विधि संचित संस्कारों के द्वारा निर्णीत होती है, जिस प्रकार पर्वत से निकलने वाला नदियों का प्रवाह-पथ तथा गति-दिशा पर्वत के प्राकृतिक आकार-प्रकार पर निर्भर है।

चेतना का सीमा-क्षेत्र+ तथा उसकी क्रिया-विधि+

औसत दर्जे के मनुष्य का जीवन-क्षेत्र तथा कार्यक्षेत्र स्थूल जगत में ही रहता है; क्योंकि चेतनारूप प्रकाश उसके स्थूल शरीर पर पड़ता है, और उस शरीर के ही द्वारा कार्य करता है। स्थूल शरीर के माध्यम तक सीमित रहने के कारण ऐसा मनुष्य स्थूल-जगत् के किसी भी पदार्थ से अभिज्ञ हो सकता है, किंतु सूक्ष्म तथा मानसिक वास्तविकताओं से संबोध-संपर्क (conscious contact) स्थापित करने में वह असमर्थ है। इस प्रकार, स्थूल जगत् सामान्य मनुष्य की रंगभूमि होती है। और उसके समस्त विचार तथा कार्य स्वभावतः उन वस्तुओं की ओर उन्मुख होते हैं, जो उसकी पहुंच के भीतर हैं। चूंकि उसकी चेतना का प्रकाश सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों के माध्यम के द्वारा सूक्ष्म तथा मानसिक जगतपर केंद्रीभूत नहीं किया जा सकता है। अतः वह सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से अपरिचित रहता है।

साधारण मनुष्य केवल स्थूल जगत् से परिचित रहता है।

इस अवस्था में, आत्मा को स्थूल संसार का ज्ञान रहता है; किंतु वह अपने यथार्थ स्वभाव से पूर्णतः अनभिज्ञ है। वह उस स्थूल शरीर से ही अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिसपर चेतना का प्रकाश पडता है और वही उसकी समस्त संभव क्रियाओं का आधार बन जाता है। वह अपने को स्वयं अपने ही व्दारा नहीं जानता, वह अपने को स्थूल शरीर की सहायता से जानता है; और चूंकि वह तमाम ज्ञान, जो वह स्थूल शरीर की सहायता से संचित करता है, स्थूल शरीर से ही संबंध रखता है, क्योंकि स्थूल ही उसके समस्त कार्य-कलाप का केंद्रबिंदु होता है, अतएव, वह अपने को स्थूल शरीर ही समझ बैठता है। सच पूछा जाय तो स्थूल शरीर उसका साधन मात्र होता है। अतः आत्मा अपने को स्त्री या पुरुष, युवा या वृद्ध इत्यादि सोचने लगता है; और देह के परिमितताओं को अपने ऊपर धारण कर लेता है।

स्थूल शरीर से तादात्म्य

स्थूल जगत् के नियम के अनुसार, अनेक जीवन चक्रों के पश्चात्, अतीव-सुख तथा अतीव दुःख के व्दन्व्द का एक लंबे समय तक पुनः पुनः अनुभव करने के कारण स्थूल जगत् संबंधी संस्कार दुर्बल पड जाते हैं। इन संस्कारों का दुर्बल पडना आध्यात्मिक जागृति की शुरुवात है। चेतना-

सूक्ष्मशरीर से तादात्म्य

प्रकाश का स्थूल जगत् के प्रलोभनों से धीरे-धीरे हटा लिया जाना, आध्यात्मिक जागृति है। ऐसा होनेपर, स्थूल संस्कार सूक्ष्म सूक्ष्म बनकर, सूक्ष्म शरीर को अपना कार्यक्षेत्र बना लेते हैं। अब चेतना का प्रकाश स्थूल शरीर पर पड़ता है; और वह सूक्ष्म शरीर को अपना माध्यम बनाकर कार्य करती है। अतः सारा स्थूल संसार आत्मा की चेतना से ओझल हो जाता है; और आत्मा को केवल सूक्ष्म संसार का बोध रहता है। अस्तित्व का सूक्ष्म क्षेत्र अब उसका जीवन-प्रसंग बन जाता है; और **आत्मा अपने को सूक्ष्म शरीर समझने लगता है।** सूक्ष्म शरीर अब उसकी कार्य-राशि का केंद्र-बिंदु बन जाता है। किंतु इस प्रकार, आत्मा के सूक्ष्म-चेतन हो जाने पर भी, वह अपने यथार्थ स्वभाव से अनभिज्ञ रहता है, क्योंकि वह अपने को स्वयं अपने द्वारा नहीं जानता, बल्कि सूक्ष्म शरीर के द्वारा जानता है। तथापि उसके रंग-मंच का स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् में परिवर्तन हो जाना विशेष महत्व रखता है, क्योंकि **सूक्ष्म क्षेत्र में, स्थूल जगत् के रूढ मापदंडों की जगह कुछ ऐसे नवीन मापदंड आ जाते हैं, जो सत्य के अधिक समीपवर्ती होते हैं। नयी शक्तियों के आविर्भूत होने से, तथा आध्यात्मिक स्फूर्ति के अधिक स्वतंत्र रूपसे प्रवाहित होने के कारण, जीवन की पद्धति बदलकर नई हो जाती है।** सूक्ष्म संसार का जीवन आध्यात्मिक यात्रा की एक अस्थायी अवस्था है;

वह लक्ष्य कदापि नहीं है, किंतु इतना अवश्य है कि स्थूल-चेतन करोड़ों मनुष्यों में से केवल एक मनुष्य सूक्ष्म-चेतन हो सकता है।

कुछ तपस्याओं तथा योगिक क्रियाओं के द्वारा, सूक्ष्म संसार से संबंध रखनेवाले संस्कार भी, समय आने पर जीर्ण पड़ जाते हैं, जिस के फल-स्वरूप, चेतना और अधिक अंतर्मुख हो जाती है; तथा चेतना का प्रकाश मानसिक (कारण) शरीर पर पुंजीभूत होता है; और उसी के द्वारा कार्य करता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से संबोधसंबंध (Conscious connection) के भंग होने का अर्थ है, स्थूल तथा सूक्ष्म क्षेत्रों का चेतना की परिधि से बहिर्भूत हो जाना। आत्मा को अब मानसिक जगत् का बोध हो जाता है। इस अवस्था में, **उसके लिए अंतिम सत्य का दर्शन स्पष्टतर हो जाता है; तथा गंभीरतर आध्यात्मिक ज्ञान की संभावनाएं सुलभ हो जाती हैं।** मानसिक क्षेत्र की इस नयी योजना में आत्मा अविच्छिन्न स्फूर्ति, गंभीर शांति तथा निश्चयात्मक सहज अंतःप्रज्ञा का अनुभव करता है; और **वह आध्यात्मिक सत्य के घनिष्ट संपर्क में आ जाता है।** ईश्वर से घनिष्ट संपर्क स्थापित हो जाने पर भी, वह ईश्वरत्व का अनुभव नहीं करता, क्यों कि वह अपने को स्वयं अपने द्वारा नहीं जानता, किंतु व्यष्टि मन (Individual Mind) के माध्यम के ही द्वारा जानता है। **वह अपने को वैयक्तिक मन समझ**

कारण शरीर से तादात्म्य

बैठता है, क्यों कि वैयक्तिक मन ही उसका आधार तथा उसकी क्रिया का केंद्र होता है। यद्यपि अब आत्मा स्थूल एवं सूक्ष्म क्षेत्रों की अपेक्षा, ईश्वर के अधिक समीप आ-जाता है, तथापि वह छायामय संसारसे ही घिरा रहता है, और मानसिक क्षेत्रसंबंधी संस्कारों से उत्पन्न आवरण के कारण, वह अपने को ईश्वर से पृथक् ही अनुभव करता है। चेतना का प्रकाश वैयक्तिक मन की मर्यादा के भीतर कार्य करता है; अतः आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का अभी भी ज्ञान नहीं होता। किंतु यद्यपि आत्मा को अपने ईश्वर होने का अनुभव नहीं होता, तथापि उसका मानसिक क्षेत्र-वर्ती जीवन, सूक्ष्म–क्षेत्रवर्ती जीवन से अधिक उन्नत अवस्था हैं; और करोडों सूक्ष्म–चेतन मनुष्यों में से, केवल एक मनुष्य मानसिक क्षेत्र से अपना चेतनसंपर्क स्थापित करने में समर्थ होता है।

स्थूल तथा सूक्ष्म अस्तित्व क्षेत्रों से ऊपर उठकर साधक, दूसरे की मदद के बिना, स्वयं अपने ही प्रयत्नों से मानसिक क्षेत्र तक पहुंच सकता है। किंतु, **मानसिक शरीर को त्यागने का मतलब है, अपने वैयक्तिक अस्तित्व का विसर्जन करना; और यह अंतिम तथा सबसे महत्वपूर्ण कदम ईश्वरप्राप्त सिद्ध सद्गुरु की सहायता के बिना नहीं उठाया जा सकता।** मानसिक क्षेत्रज्ञ करोडों मनुष्यों में से केवल एक मनुष्य अपनी चेतना के प्रकाश को वैयक्तिक

मन से वापस खींचने में समर्थ होता है। चेतना के ऐसे अपनयन का अर्थ आत्मा के मानसिक जीवन-संबंध संस्कारों के अंतिम अवशेषों का पूर्णतः लोप है। जब चेतना का प्रकाश तीनों शरीरों में से किसी एकपर भी केंद्रित नहीं किया जाता तब वह आत्मा के यथार्थ स्वभाव को प्रतिबिंबित करने में सफल होता है।

सद्गुरु की आवश्यकता

अब, **किसी माध्यमपर आश्रित हुए बिना, आत्मा को अपने आपका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। अब, वह अपने को सान्त शरीर नहीं समझता, किंतु अनन्त ईश्वर तथा एकमेव सत्य जानता है।** जीवन में यह महान घटना तभी होती है, जब **तीनों शरीरों से पूर्ण संबंध-विच्छेद** हो जाता है। विभिन्न-अस्तित्व क्षेत्रों की चेतना तत्संबंधी शरीरोंपर आश्रित रहती है; अतः आत्म-ज्ञान होनेपर आत्मा को **समस्त संसार की पूर्ण विस्मृति** हो जाती है। चेतना का प्रकाश किसी बाह्य या विदेशीय वस्तु पर एकत्रीभूत नहीं किया जाता, किंतु स्वयं आत्मा पर खींच लिया जाता है। फलतः आत्मा यथार्थतः आत्म-चेतन हो जाता है और उसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञान

तीनों अस्तित्व क्षेत्रों में, उन्नति-क्रम के अनुसार, स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक (कारण) शरीरों से तादात्म्य स्वरूप

मिथ्या आत्म-ज्ञान (false self knowledge) हो जाया करता है। आत्मा के आत्मचेतन होने का जो सृष्टि का आरंभिक उद्देश्य है, उसीके अनुसार ऐसा हुआ करता है। आध्यात्मिक उन्नति पराकाष्ठापर पहुंचे बिना, आत्मा को सच्चा आत्म-ज्ञान नहीं होता; और उन्नतिकाल में होनेवाले विभिन्न प्रकार के आत्म-ज्ञान मानो सच्चे आत्म-ज्ञान के अस्थायी प्रतिनिधि (Temporary substitutes) हैं। **आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में वे आवश्यक भूलें** (necessary mistakes) हैं। चूंकि पूरे यात्रा-काल में चेतना का प्रकाश स्वयं आत्मापर न फेंका जाकर, वस्तु-जगत्पर पदार्थों की ओर फेंका जाता है, अतः आत्मा प्रवृत्तितः इन पदार्थों में इतना अधिक भूल जाता है, कि वह अपने खुद के अस्तित्व तथा स्वरूप से बेखबर हो जाता है। **इस एकदम लगातार आत्म-विस्मृति की अभाव-पूर्ति मानो देहात्म-भावमूलक आत्म-स्मृति से की जाती है, क्योंकि देह ही चेतना के प्रकाश की केन्द्रीय नीव होती है।** इस प्रकार, आत्मा अपने को अपना शरीर समझ जाता है, तथा अन्य आत्माओं को भी उनके शरीरों के रूपमें ही देखता है। और इस अज्ञान के कारण, वह उस द्वैत-जगत् का संवर्धन करता है, जहां स्त्री–पुरुषों का कामवासनासंबंध है, तथा जहां स्पर्धा, आक्रमण, घृणा, पारस्परिक भय तथा स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षा

विभिन्न प्रकार के मिथ्या आत्मज्ञान सच्चे आत्मज्ञान के अस्थायी प्रतिनिधि हैं।

है। किसी चिन्ह की सहायता से आत्म–ज्ञान करने की प्रयत्न भ्रांति, उलझन तथा बंधन का उद्गम स्थान है।

इस प्रकार का अज्ञान लौकी की मशहूर कहानी से अधिक स्पष्टतः समझ में आ जायगा। यह कहानी शायद जामी के अशआर में वर्णित है। एक समय की बात है, कि एक बिलकुल भुलक्कड आदमी रहता था जो भूल जाने के गुण में अपना सानी नहीं रखता था। उसके विश्वास का एक बुद्धिमान दोस्त था जिसने कम से कम अपनी खुद की याद रखने में उसकी मदद की। उसके इस मित्र ने उसके गले में एक लौकी बांध दी और कहा, "ऐ बूढे, सुनो, किसी दिन तुम अपने आपको गुमा–डालोगे; और तुम्हें अपनी याद न रहेगी। इसलिए, चिन्ह के तौरपर तुम्हारे गले में मैं, यह लौकी बांध देता हूं, ताकि हर दिन सुबह उठकर, जब तुम लौकी को देखोगे, तो तुम्हें अपना ख्याल रहेगा।" प्रतिदिन सुबह अन्यमनस्क मनुष्य जगते ही लौकी को देखता था; और अपने आपको कहता था, "**मैं गुमा नहीं हूं**"। कुछ दिनों के बाद, जब वह भुलक्कड लौकी की सहायता से अपने आपको पहचानने का आदी हो गया, तब उसके मित्र ने एक अजनबी आदमी को अपने भुलक्कड दोस्त के साथ रहने के लिए कहा, और उसे यह भी कह दिया, कि दोस्त की नींद के समय, वह लौकी, उसके गलेसे निकाल कर, अपने गले में बांध ले। अजनबी आदमी ने ऐसा ही

लौकी की कहानी

किया और जब सुबह यह मुलक्कड मनुष्य नींद से जगा, तो उसने लौकी अपने गले में नहीं पायी। अतएव उसने अपने आपसे कहा **"मैं गुम गया हूं"**। उसने दूसरे मनुष्य के गले में लौकी देखी, और उससे कहा **"तुम "मैं" हो; किंतु फिर मैं कौन हूं"**।

देहात्मभावमूलक विभिन्न प्रकार के मिथ्या आत्म–ज्ञान (False Self knowledge) का इस लौकी की कहानी से सादृश्य हैं। अपने आपको देह के रूप में जानना, अपने को लौकी की सहायता से जानने के सदृश है। स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक (कारण) शरीर से क्रमशः अतादात्म्य होनेपर, जो अस्थिरता उत्पन्न होती है, वह शून्यमनस्क मनुष्य की उस अस्थिरता के तुल्य है, जिसका अनुभव उसे लौकी को गले में न पाने से हुआ था। द्वैत–भाव के लोप का आरंभ होना, शून्यमनस्क मनुष्य का उस अपरिचित मनुष्य को अपना स्वरूप समझने के समान है, जिसने उसकी लौकी अपने गले मे बांध ली थी। और यदि शून्यमनस्क मनुष्य ने बिना चिन्ह की सहायता के, अपने ही द्वारा अपने को जानना सीखा होता, तो वह उस आत्मज्ञान के तुल्य हुआ होता, जो तीनों शरीरों से संबंध विच्छेद होनेपर प्राप्त होता है और जिस के प्राप्त होनेपर, आत्मा अपने को ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझता। **ऐसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति इस सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है।**

उक्त दृष्टान्त का स्पष्टीकरण

(७) ईश्वरानुभूति

सच्ची आत्मानुभूति की प्राप्ति ही ईश्वरानुभूति की प्राप्ति है। ईश्वरानुभूति चेतना की अनुपमेय अवस्था है। चेतना की अन्यान्य अवस्थाओं से वह भिन्न है, क्योंकि चेतना की अन्य सभी अवस्थाएं वैयक्तिक मन (Individual Mind) के माध्यम के द्वारा अनुभूत होती हैं, किंतु ईश्वर का अनुभव वैयक्तिक मन या किसी अन्य माध्यमपर आश्रित नहीं रहता।

आत्मानुभूति ही ईश्वरानुभूति है।

आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु के अनुभव के लिए, माध्यम की आवश्यकता होती है, किंतु आत्मा के अनुभव के लिए, किसी माध्यम की जरूरत नहीं पडती। चेतना का मन के साथ संसर्ग, ईश्वरानुभूति के लिए, सहायक नहीं, किंतु निश्चयतः बाधक है। वैयक्तिक मन अहंवृत्ति अर्थात् पार्थक्यबोध का आसन है। वह उस सीमित व्यक्तित्व को जन्म देता है, जो देश–काल–निमित्त–संबंधी द्वैत-काम का पोषण करता है, तथा जो स्वयं उस के द्वारा पोषित होता है। अतः आत्मा को जैसा का वैसा जानने के लिए, चेतना को वैयक्तिक मन की सीमाबद्धता से बिलकुल मुक्त करना जरूरी है। कहने का आशय यह है, कि वैयक्तिक मन का तो लोप हो जाना चाहिए, किंतु चेतना कायम रहना चाहिए।

आत्मा के अतीत कालीन जीवन-इतिहास में, चेतना वैयक्तिक मन के साथ साथ वर्धित होती है; और चेतना की समस्त क्रियाओं की पृष्ठ-भूमि वैयक्तिक मन ही होती है। अतः **चेतना वैयक्तिक मन में दृढता-पूर्वक बद्धमूल हो जाती है;** और वह जिस ग्रंथि में गुंथ जाती है, उससे अलग नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है, कि जब मन अंतर्हित होता है, तो चेतना भी लुप्त हो जाती है। ध्यान के द्वारा, मानसिक क्रिया बंद करने के प्रयत्न में, चेतनाशून्य होने का जो अनुभव होता है, उससे वैयक्तिक मन तथा चेतना का ग्रंथिसंबंध पर्याप्ततः समझ में आ जाता है।

चेतना मन से ग्रंथित हो जाती है।

ध्यानावस्था में जिस मनकी क्रियामंदता का अनुभव होता है, वह नींद से सर्वथा भिन्न नहीं, यद्यपि ध्यान तथा नींद की उत्पत्ति में थोडासा ही भेद है। चूंकि वैयक्तिक मन निरंतर द्वैतजगदभिमुखी रहा करता है, अतः वह अविश्रांत संघर्ष में अभिषक्त रहता है; और **जब वह अपने अनुध्दत घात प्रतिघात से क्लांत हो जाता है, तब वह अपनी पृथक् सत्ता को खोकर, अनन्त की ओर लौटना चाहता है।** तो फिर वह स्व-सृष्ट संसार से अपक्रमण करता है; और क्रियाशून्यता का अनुभव करता है। मन का क्रियाशून्य होना तथा चेतना का लोप होना अवश्यतः एक साथ होते हैं।

नींद का स्पष्टीकरण

पुनर्जागरण

नींद में मानसिक क्रिया स्थिर हो जाती है; और इस प्रकार, चेतना का पूर्ण लोप हो जाता है; किंतु मानसिक जीवन तथा मानसिक क्रिया की यह समाप्ति केवल अस्थायी होती है, क्योंकि **मन में संचित अनुभवचिन्ह** (Impressions of Experience) **एवं संस्कार मन को फिरसे क्रिया-प्रवृत्त होने के लिये प्रोत्साहित करते हैं**। अनुभव की छाप की आंतरिक प्रेरणा से, मन फिर विलोडित हो जाता है, जिससे उसे फिर संज्ञालाभ हो जाता है; और चेतना मन के माध्यम की सहायता से अपनी संबोध-क्रिया फिर शुरू कर देती है। इस प्रकार, कार्य और विश्राम के क्रमानुक्रमी नियम के अनुसार, नींद के बाद जागरण तथा जागृति के बाद नींद का क्रमागमन जारी रहता है। किंतु जब तक मन में के प्रसुप्त संस्कार बिलकुल नष्ट नहीं होते, तब तक वैयक्तिक मन का अंतिम लोप अर्थात् चेतना को मुक्ति नहीं होती। नींद में, कुछ समय के लिए, मन अपनी पृथक सत्ता भूल जाता है; किंतु उसके वैयक्तिक अस्तित्व का अंतिम नाश नहीं होता। और जब मनुष्य निद्रा से पुनर्जागरण में प्रवेश करता है, तो वह अपने को पूर्ववत् सीमाबद्ध पाता है। यद्यपि चेतना का पुनरुज्जीवन होता है; किंतु वह मन के भार से आक्रांत ही रहती है।

सीमित मन की धरती में, अहंकार दृढतापूर्वक बद्धमूल रहता है। यह अहंकार भ्रमों के फंदे में फंस जाता है; और

इस प्रकार, वह अज्ञान की वृद्धि करता है। अहंकार आत्मा में सुप्त अनन्त ज्ञान का प्रतिरोधक है! अहंकार ही ईश्वरानुभूति का दुर्द्धर्ष शत्रु है। फारस का एक कवि सच ही कहता है, "अज्ञान के परदे को चीरकर देखना महा कठिन है, क्योंकि आगपर चटान रख दी गयी है"। यदि आग की ज्वाला पर चटान रख दी जाय, तो वह बहुत उंची नहीं उठ सकती। इसी प्रकार, चेतनापर जब तक अहंकार का बोझ लदा हुआ है, तब तक ईश्वर-जिज्ञासा सत्य तक नहीं पहुंच सकती। **आत्मा की संपूर्ण यात्रा में, अहंकार की निरंतरता आत्मज्ञान को असंभव बना देती है।** बुढापे में, महीनों दांत की पीडा सताती रहती है, क्योंकि यद्यपि उसकी जड ढीली हो जाती है, और वह अपने स्थान में बहुत हिलती-डुलती रहती है, तोभी वह उखडती नहीं है। इसी प्रकार, पवित्र प्रेम अथवा तपस्या से जर्जरीभूत अहंकार का शीघ्र उन्मूलन नहीं होता। आत्मा, ज्यों ज्यों पथपर अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों अहंकार भी अधिकाधिक जीर्ण होता जाता है। तो भी वह तब तक निर्जीव नहीं होता, जब तक सातवीं भूमिका में पहुंच नहीं हो जाती।

अहंकार का विघ्न

अहंकार समस्त मानवीय क्रिया का केंद्र है, और अहंकार के संहार का प्रयत्न अपनी भुजाओं पर खडे होने के प्रयत्न के तुल्य है। जिस प्रकार, आंख अपने आपको नहीं देख

सकती, उसी प्रकार, अहंकार, अपने अस्तित्व का स्वयं अंत करने में, असमर्थ है। **अपने अस्तित्व का विध्वंस करने के लिए, अहंकार जो कुछ भी कार्य करता है, वह उसके अस्तित्व की और भी वृद्धि करता है;** अपना अस्तित्व नष्ट करने की उसकी चेष्टाएं उसे और भी हृष्ट-पुष्ट करती हैं। अतः अपने निजी उन्मत्त प्रयत्नों के द्वारा; अपना लोप करने में वह असमर्थ है। हाँ, अपना रूप-परिवर्तन करने में, वह सफल जरूर होता है। अहंकार के अंतर्हित होने के लिए, उसके निवासस्थान अर्थात् सीमित मन को विलुप्त होना चाहिए!

अहंकारपर विजय प्राप्त करने की कठिनाई

ईश्वरानुभूतिकी समस्या चेतना को मनकी सीमाओं से मुक्त करने की समस्या है। जब वैयक्तिक मन का लय हो जाता है, तब मनसापेक्ष सब संसार शून्य होता है; और चेतना फिर किसी वस्तु से आबद्ध नहीं रह जाती। फिर चेतना किसी वस्तु से आच्छादित वा सीमाबद्ध नहीं रहती। इस प्रकार, मुक्त हो जानेपर, वह अनन्त सत्य को उद्दीप्त करने का कार्य करती है। अनुभूति के आनन्द में निमग्न रहने के कारण, आत्मा को दर्शन, श्रवण, या संसार के अन्य इंद्रियगोचर पदार्थों का विस्मरण हो जाता है। किंतु अनेक महत्वपूर्ण बातों में, प्रगाढ निद्रावस्था ईश्वरानुभूति से भिन्न है। निद्रा में चेतना का लोप हो जाता है

निद्रा तथा ईश्वरानुभूति में समानता

अतः निद्राकाल में संसार अंतर्हित हो जाता है। किंतु निद्रावस्था में, ईश्वर की सज्ञान अनुभूति नहीं होती, क्योंकि ईश्वरानुभूति के लिए, अहंकार का पूर्णतः लोप तथा चेतना का परम सत्य की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। कभी-कभी जब क्षणिक अंतरालों-द्वारा निद्रा में व्याघात हो जाता है, तब आत्मा को किसी विशिष्ट वस्तु के बोध के बिना चेतना को कायम रखने का अनुभव हो सकता है। ऐसे क्षणिक निद्रा-भंग में चेतना रहती है। किंतु यह चेतना संसार की चेतना नहीं होती; वह मानो **शून्य की चेतना है।** पूर्णतः ऐसे अनुभवों को, जिनमें चेतना, संसार से पूर्णतः मुक्त हो जाती है, तथा उस अनन्त ज्ञान को क्षणभर के लिए अभिव्यक्त सी करती है, जो अब तक अहंकार से आच्छन्न था, ईश्वरानुभूति का पूर्वाभास कह सकते हैं।

निद्रा तथा ईश्वरानुभूति में अंतर

निद्रा में, यद्यपि मन अपने आपको, तथा अन्य सभी वस्तुओं को भूल जाता है, तथापि उसका अस्तित्व बना रहता है; और प्रसुप्त चित्त-संस्कार विलुप्त चेतना तथा अनन्त सत्य के बीच में, आवरण उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार, **निद्रावस्था में चेतना वैयक्तिक मनके कोष में विलुप्त हो जाती है; किंतु इस कोष से बाहर निकलने में अभी तक मानो असमर्थ रहती है।** अतएव आत्मा यद्यपि ईश्वर से अपनी पृथक् सत्ता भूल जाता है,

और वस्तुतः वह ईश्वर से सायुज्य प्राप्त करने में सफल होता है, किंतु उसे इस सायुज्य का ज्ञान नहीं रहता। किंतु **ईश्वरानुभूति में, मन अपने को भूलकर ही नहीं रह जाता; किंतु (समस्त संस्कारों सहित), उसकी पृथक् सत्ता बिलकुल नष्ट हो जाती है।** और वैयक्तिक मन से अब तक अनुषक्त रहनेवाली चेतना, अब अपने समस्त बंधनों से मुक्त होकर, न केवल परम सत्य के सीधे संपर्क में आती है, किंतु उससे उसका सायुज्य हो जाता है। वह अनंत से युक्त हो जाती है; वह अनंत में ही नित्य अविच्छेद्य रूप से निवास करती है; और उसकी इस एकता से अनन्त ज्ञान तथा अखंड आनन्द की असीम अवस्था का उद्भव होता है।

अनंत ज्ञान तथा असीम आनंद केवल उसी आत्मा की चेतना में अभिव्यक्त होते हैं, जिसे ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है। ईश्वरानुभूत आत्मा में, अनंत सत्य को अपनी अनंतता का पूर्ण तथा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। किंतु ऐसा ही पूर्ण और प्रत्यक्ष ज्ञान का, उस आत्मा में स्थित अनंत सत्य को, अनुभव नहीं होता, जिसे ईश्वरानुभूति की प्राप्ति नहीं हुई रहती। ईश्वरानुभूतिशून्य आत्मा संसार भ्रम से ग्रस्त रहता है। यदि ईश्वरानुभूति, इस प्रकार, आत्मा की व्यक्ति-गत उपलब्धि नहीं रही होती, तो एक आत्मा को ईश्वरानुभूति होने के पश्चात्, सब संसार का अंत होता। किंतु ऐसा केवल इसी लिए नहीं

ईश्वरानुभूति व्यक्तिगत होती है।

होता, कि **ईश्वरानुभूति मन का अतिक्रमण करनेवाले आत्मा को ही प्राप्त होनेवाली चेतना की व्यक्तिगत अवस्था है।** दूसरे आत्मा बंधनबद्ध ही रहते हैं; और यद्यपि उन्हें भी, एक दिन ईश्वरानुभूति अवश्य होगी, किंतु उन्हें ईश्वरानुभूति तभी होगी, जब वे वैयक्तिक मन की परिमितता तथा अहंकार के भार से चेतना को मुक्त करने में सफल हो सकेंगे। अतः आत्मानुभूति की प्राप्ति का प्रत्यक्ष महत्व केवल उसी आत्मा के लिए है, जो काल–चक्र से विमुक्त हो चुका हो।

ईश्वरानुभूति की प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को विदित होता है, कि **वह तो सदैव वही अनंत सत्य रहा है, जिसके होने का ज्ञान उसे अभी हुआ है;** और विकास क्रम के समय, तथा आध्यात्मिक उन्नति करते समय, उसका, अपने आपको सीमित (finite) मान लेना, वस्तुतः एक भ्रम था। आत्मा को यह भी ज्ञात होता है, कि जिस अनंत ज्ञान तथा जिस असीम आनंद का वह अब आस्वाद कर रहा है, वे काल के आरंभ से ही अनंत सत्य में, प्रसुप्त रूप से विद्यमान थे, और अनुभूति के समय वे केवल प्रकट हुए। इस प्रकार, ईश्वरानुभूत मनुष्य वस्तुतः कोई वह वस्तु नहीं हो जाती, जो वह अनुभूति के पूर्व नहीं था। वह अब भी वही रहता है, जो वह पहले था। **अनुभूति**

अनंत में जो प्रसुप्त रहता है वही प्रगट हो जाता है।

से केवल इतना ही अंतर आ जाता है, कि उसके पूर्व वह अपना यथार्थ स्वरूप नहीं जानता था, जिसे अब वह जानता है। उसे मालूम होता है, कि आज जो वह है, उससे भिन्न वह कदापि नहीं था; और वह जिस अवस्था से गुजर चुका है; **वह अपने आपको जानने का एक तरीका था।**

ईश्वरानुभूति प्राप्त करने का तरीका मानो एक खेल है, जिस के आदि और अंत में कोई भेद नहीं है। किंतु, तो भी ईश्वरानुभूति की प्राप्ति आत्मा के लिए एक प्रत्यक्ष लाभ है। लाभ दो प्रकार के होते हैं। पहला प्रकार का लाभ यह, कि **उस वस्तु की प्राप्ति, जो पहले हमारे पास नहीं थी।** दुसरे प्रकार का लाभ यह कि **हम यथार्थ में जो हैं उसकी अनुभूति।** ईश्वरानुभूति का महत्व दुसरे प्रकार के लाभ में निहित है, जो ईश्वरानुभूति युक्त आत्मा तथा ईश्वरानुभूतिशून्य आत्मा में, अनन्त अन्तर पैदा कर देता है। यद्यपि ईश्वरानुभूत आत्मा को कुछ नयी वस्तु मिलती नहीं, तथापि, उसका यह स्पष्ट ज्ञान, कि वह क्या था, क्या है और वह सदैव क्या रहेगा, उसकी ईश्वरानुभूति को अत्यंत महत्वपूर्ण बना देता है। ईश्वरानुभूति-हीन आत्मा अपने सीमा-बद्ध होने का अनुभव करता है; और सुख-दुःखादि के नश्वर द्वन्द्वों से निरंतर पीडित रहता है। किंतु वह आत्मा, जिसे ईश्वरानुभूति हो जाती है, द्वन्द्वातीत हो जाता है; तथा **ईश्वरचेतन होने का अनन्त ज्ञान तथा असीम आनंद अनुभव करता है।**

दो प्रकार के लाभ

ईश्वरानुभूति में, आत्मा अपनी पृथक् चेतना का विसर्जन कर देता है, तथा अनन्त सत्य से अपने सायुज्य के अविनश्वर ज्ञान के द्वारा, द्वैतातीत हो जाता है; सीमा-बद्ध व्यक्तित्व की शृंखलाएं छिन्न हो जाती हैं; ऐंद्रजालिक छाया की छलना का अंत हो जाता है, भ्रमावरण सदैव के लिए हट जाता है, तथा सीमित चेतना के कंटकाकीर्ण उत्ताप और नैराश्य की जगह, हमेशा के लिए, सत्यप्रत्यय की शांति तथा आनंद का अनुभव होता है; और ऐहलौकिक लोभ तथा आवेगोद्वेग मानो अनन्तसागर की अथाह, शांति और अगम्य गांभीर्य में समा जाते हैं।

ईश्वरानुभूति का महत्व

सच्ची शिष्यता

जब साधक किसी सद्गुरु से स्वेच्छासे संबद्ध हो, तब वह उसका शिष्य कहलाता है। यदी यह संबंध मात्र नैयमिक शिष्टाचार ही रहा हो तो वह सच्चा शिष्यत्व नहीं कहा जा सकता। गुरु-शिष्यसंबंध अन्यविध कानूनी संबंधों से सर्वथा भिन्न है। **कानूनी संबंध नियमानुसार लिखित इकरार नामे या जबानी रजामन्दी के जरिये तय होते हैं, तथा उनके हक तथा जिम्मेदारी की उत्पत्ति होती है।** किंतु शिष्यत्व उत्कृष्ट साधक के जीवन के सारभूत लक्षणों में एक विशिष्ट लक्षण है; और किसी निरर्थक कारवाई से वह उत्पन्न नहीं होता। **शिष्यत्व का जन्म आध्यात्मिक जीवन के आधार-भूत नियमों के अनुसार होता है।** अतः उसका महत्व सामान्य सामाजिक जीवनप्रसंगविषयक आनुषंगिक समागमों या अस्थायी व्यापार-संसर्गों के परिणाम-स्वरूप पैदा होनेवाले सांसारिक संबंधों या रिश्ते नातों की अपेक्षा कहीं बढकर है। अनेक ऐसे पार्थिव संबंध साधक के जीवन की बाह्य सतह पर ही स्थित रहते हैं। **वे उसके हृदय की तह को नहीं छू पाते तथा उसके जीवन के आध्यात्मिक हर्म्य में प्रविष्ट नहीं**

शिष्यत्व एक मार्मिक संबंध है

होते। तुम्हारे लिये तब तक यह कोई बडे महत्व की बात नहीं है, कि अमुक वस्तु इस दूकानदार से खरीदते हो, या उस दूकानदार से, जब तक तुम उस वस्तु की कीमत दे चुकते हो। इसी तरह, तुम चाहे इस जहाज से यात्रा करो, या उस जहाज से, तुम्हें गंतव्य स्थान में पहुंचने से गरज है; फिर चाहे कोई भी जहाज तुम्हें वहां पहुंचावे। इस प्रकार के व्यावहारिक संबंध भी अंतर्भूत सांसारिक बंधनों तथा मार्मिक नियमों से निर्दिष्ट होते हैं; अतः वे आध्यात्मिक महत्व से नितान्त शून्य नहीं हैं। किंतु ये संबंध स्वभावतः ही अस्थायी और बाह्य होते हैं। और उन की तुलना साधक के जीवन को प्राण और दिशा देनेवाले शिष्यत्व के मार्मिक संबंध से किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती।

शिष्यत्वमें अनुस्यूत प्रेम अनुपम होता है

गुरु-शिष्य-संबंध साधक के जीवन की अंतर्गत अवस्थाओं का अपरिहार्य परिणाम है। यह प्रथमतः प्रेमी तथा उसके दैवी प्रियतम के बीच का संबंध है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, यह संबंध मनुष्य के अन्यान्य संबंधों में, सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। साधारण सामाजिक संबंधों में पाये जानेवाले प्रेम की अपेक्षा, शिष्यत्व का मर्मभूत प्रेम निरुपम होता है। सांसारिक प्रेम दो ईश्वरअचेतन केंद्रों के बीच संबंध हैं; किंतु **शिष्य का गुरु के प्रति प्रेम ईश्वरअचेतन** (God-unconscious) **का ईश्वरचेतन** (God-conscious) **के प्रति प्रेम है।** प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर है; किंतु कुछ अपने

ऐश्वर्य से अचेतन हैं; कुछ अपने ऐश्वर्य से अंशतः चेतन हैं; **और कुछ अपने ऐश्वर्य से पूर्णतः चेतन हैं।** ईश्वर-अचेतन को ईश्वरावस्था की कोई कल्पना नहीं हो सकती। वे केवल देहावस्था से चेतन हैं। ईश्वरचेतना मिलने के लिए, उन्हें ईश्वरावस्था में निरन्तर निवास करनेवाले सद्गुरु से प्रेम करना पडता है, उनकी भक्ति करनी पडती है; तथा उनकी मार्गदर्शनपर आज्ञाओं का पालन करना पडता है।

गुरु के प्रति शिष्य का प्रेम वस्तुतः शिष्य के प्रति गुरु के उच्चतर प्रेम का प्रत्युत्तर है, और इस प्रेम को अन्य प्रेमों से श्रेष्ठतम प्रेम मानना चाहिए। गुरु प्रेम स्वाभाविकतः साधक के जीवन में एक केंद्रीय शक्ति बन जाता है, क्योंकि शिष्य गुरु को अनन्त ईश्वर का प्रतिनिधि या मूर्तिमान स्वरूप मानता है।

गुरु के दावे की श्रेष्ठता

अतः, वह गुरु को केंद्र बनाकर, उसके चारों ओर अपनी समस्त इच्छाओं और आकांक्षाओं का ताना-बाना बुनता है। अतः साधक के स्वीकृत अन्य दावों में उसके गुरु का दावा (Claim) निर्विवाद रूपसे सर्वश्रेष्ठ है; और **दावे की सर्वश्रेष्ठता क ही द्वारा, गुरु आध्यात्मिक शक्तिरूपी प्रभा-पुंज का केंद्र-विंदु बनकर, दिव्य-रश्मि राशि का प्रसार करता है, जिससे शिष्य का अज्ञानांधकार दूर होता है, उसके हृदय के दूषण नष्ट होते हैं, तथा वह मुक्त एवं ज्ञानमय जीवन में प्रविष्ट होता है।**

सच्चा शिष्य बनने की अभिलाषा रखनेवाले के लिए, यह परम आवश्यक है, कि वह गुरुसे तर्क-वितर्क-शून्य प्रेम करे। **सभी प्रकार की प्रेमसरिताएं आखिर गुरुप्रेम की दिव्य सरिता में मिलकर गुप्त हो जाती हैं।** मजनूने लैला से प्रेम किया। उसके प्रेम में इतनी तीव्रता थी, कि उसके जीवन का प्रत्येक क्षण लैला की स्मृति से ओत-प्रात बहता था। लैला का ध्यान किये बिना न तो वह खा-पी सकता था, और न सो ही सकता था। उसके लिये लैला का सुख ही एक आकांक्ष्य विषय था। यदि वह यह जानता, कि किसी दूसरे श्यक्ति के साथ लैला की शादी हो जाने में ही, उनकी भलाई है तो ऐसी शादी से मजनू को प्रसन्नता होती; और वह उसके पति के लिए मरने को भी तैयार होता, यदि वह जानता, कि ऐसा करने से लैला सुखी होगी। उसका यह उच्च कोटि का स्वार्थत्याग तथा सच्चा प्रेम, उसे अंततोगत्वा गुरु की ओर ले जाने में सफल हुआ। अपने जीवन में प्रत्येक पलमें, वह अपने बारेमें नहीं सोचता था। किंतु अपनी प्रियतमा के विषय में ही सोचता था। इस तीव्रता ने उसके प्रेम को शारीरिक या बौद्धिक सतह से उठाकर, आध्यात्मिक बना दिया। उसके प्रेम की आध्यात्मिकता उसे दैवी प्रियतम के पास ले आयी।

सभी प्रकार का प्रेम सद्गुरु की ओर ले जाता है।

गुरु दैवी प्रियतम है; और गुरु के मिलने पर शिष्य का केवल इतना ही काम है, कि वह उसे प्रेम करे, क्योंकि यदि

शिष्य गुरु को सर्वान्तः करण से प्रेम करता है, तो गुरु के साथ उसकी अंतिम एकता की प्राप्ति सुनिश्चित रहती है। उसे अपने प्रेम के प्रकार के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए उसे अपनी दुर्बलताओं के बावजूद भी, प्रेम करना चाहिए; और हृदय पवित्र होते तक गुरु पर प्रेम करने में कभी भी नहीं चूकना चाहिए। गुरु पवित्रता का उद्गम स्थान है; और **गुरु पर अपने हृदय को लगाना आत्म-शुद्धि का आरंभ है।** जब शिष्य पूर्ण हृदय से गुरु को प्यार करता है, तब वह गुरु की दिव्य प्रेम-वर्षा का पात्र बन जाता है। और वह जो दिव्य प्रेम प्राप्त करता है, उसकी ज्वाला में उसकी समस्त दुर्बलताएं भस्मीभूत हो जाती हैं। किंतु यदि शिष्य सभी दुर्बलताओं से त्राण पाने, तथा निर्मल एवं अनंत पवित्रता की प्राप्ति करने का इच्छुक है, तो **उसे अपना जीवन निर्व्याज एवं निष्कपट भाव से गुरु को समर्पित कर देना चाहिए।** उसे अपने बल-दौर्बल्य, सद्गुण-दुर्गुण तथा अपने पाप-पुण्य सभी कुछ गुरु को अर्पित कर देना चाहिए। ऐसे आत्म-समर्पण में किसी प्रकार का 'अगर-मगर' 'किंतु-परंतु' नहीं रहना चाहिए। उसकी शरणागति इतनी पूर्ण होना चाहिए, कि उसके मन में, किसी स्वार्थमूलक गुप्त इच्छा की लेशमात्र छाया भी नहीं रहना चाहिए।

प्रेम तथा शरणागति के द्वारा शुद्धि

पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अवितर्क प्रेम तभी संभव होता है, जब शिष्य की गुरु के प्रति निश्चित श्रद्धा पैदा हो जाती

है। गुरु के प्रति श्रद्धा सच्ची शिष्यता का अपरिहार्य भाग है। ईश्वरानुभूति हो जानेपर श्रद्धा के लिए कोई जगह नहीं रह जाती। जैसे जब मनुष्य यह जान जाता है, कि वह मनुष्य है, तो फिर श्रद्धा का प्रश्न ही नहीं रह जाता। किंतु ज्ञानावस्था के प्राप्त होने तक, शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा उसके लिए विश्वसनीय पथप्रदर्शक ज्योति है। गुरु के प्रति विश्वास जहाज के संचालक चक्र (Steering wheel) के समान है। **विश्वास को अंधा कहना गलत है, क्योंकि वह दृष्टिरहित अज्ञान की अपेक्षा, अधिकतर दृष्टि के तुल्य है,** यद्यपि यह दृष्टि तब तक दर्शन से वंचित रहती है, जब तक ईश्वर से साक्षात्कार नहीं हो जाता। अकारण ही समस्त धर्मों को 'श्रद्धा' (Faiths) नहीं कह दिया जाता। साधक के जीवन की परमोपयोगी बातों में से विश्वास भी एक है। विश्वास भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है; किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह एकही वस्तु है, और उसे अलग नाम नहीं दिया जा सकता। विश्वास के भेद केवल अंश के भेद है; प्रकार के नहीं। विश्वास सबल और सजीव हो सकता है, या शिथिल और दुर्बल हो सकता है। दुर्बल तथा शिथिल विश्वास मनुष्य को शास्त्रोक्त आचार-अनुष्ठान तथा बाह्य रूढिनियम पर आसक्ति तक ही ले जाता है। किन्तु, **सबल तथा सजीव विश्वास धर्म के बाह्य रूपों से परे अवश्य ले जाता है;** और ऊपरी छिलके

विश्वास या श्रद्धा का महत्व।

को त्यागकर आध्यात्मिक जीवन के भीतरी बीज तक पहुंचाने में सहायक होता है। **जब विश्वास अपने निजी अंतिम अधिष्ठान का आश्रय लेकर खुद के गुरु के प्रति आरूढ हो जाता है, तब वह पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।**

शिष्य की श्रद्धा गुरुके ईश्वरत्व के संबंध में उसके निजी अनुभव पर अधिष्ठित होनी चाहिए। उसे उस तिनके की तरह नहीं होना चाहिए जो जरासी हवा के द्वारा उठ जाय। उसे उस चट्टान की भांति होना चाहिए, जो प्रबलतम आंधी में भी निश्चल रहती है। गुरुके प्रति सच्ची श्रद्धा कैसी होनी चाहिए, यह कल्याण की कथा से प्रकट होता है। कल्याण रामदास का शिष्य था। स्वामी रामदास शिवाजी के समकालीन, एक सिद्ध सद्गुरु थे। गुरु अपने सब शिष्यों को एक समान प्रेम करता है। किन्तु उनमें से कोई एक उसे विशेष प्रिय हो सकता है। जैसे मनुष्य अपने शरीर के सभी भागों को प्रेम करता है, किन्तु अंगुलियों की अपेक्षा, उसकी आंखें उसे अधिक प्यारी होती हैं। स्वामी रामदास के अनेक शिष्य थे। किन्तु कल्याण सबसे प्रिय था। दूसरे शिष्य यह नहीं समझ पाते थे, कि कल्याण औरों की अपेक्षा गुरु को अधिक प्यारा क्यों था।

कल्याण की कथा

एक बार स्वामी रामदासने अपने शिष्यों की भक्ति की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने बहाना किया, कि वे इतने बीमार हैं, कि अब वे मरने ही वाले हैं। उन्होंने सब शिष्यों को

बुलवाया। उन्होंने अपने घुटनों की जोड पर एक आम रखकर उसपर घाव बांधने की पट्टी (Bandage) चारों ओर से लपेट दी, जिससे वह हूबहू एक बड़ी सूजन की तरह दिखने लगा। इस सूजन की ओर अँगुली दिखलाते हुए, स्वामी रामदासने अपने सभी शिष्यों से कहा, कि वह एक दुःसाध्य व्रण है, और उसके विष को यदि कोई चूसकर न निकालेगा तो उनका बचना असंभव हो जायगा। तथा जो कोई विष को चूसकर निकालेगा वह तत्काल मर जायगा। फिर अपने शिष्यों से पूछा कि मरने का खतरा रहते हुए, उनमें से कौन सूजन के पीप को चूसकर निकालने के लिए तैयार है। दूसरे सभी शिष्यों ने आनाकानी की, किन्तु कल्याण तुरंत उठ खड़ा हुआ; और उसने व्रण को चूसना शुरू किया। चूसने पर कल्याण के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसे मालूम हुआ कि उसने तो विष की जगह आम का मीठा रस चूसा है। और इसके सिवा स्वामी रामदासने उसके निस्वार्थ प्रेम तथा अटल श्रद्धा की अनेक प्रशंसाएं कीं। प्रियतम के सुख के लिए स्वयं मरने के लिए तैयार रहना ही सच्चा प्रेम है। कल्याण की जैसी असंदिग्ध श्रद्धा, अच्युत प्रेम तथा अविभक्त निष्ठा, गुरु की कृपासे ही प्राप्त होती है।

गुरु के प्रति अविभक्त भक्ति से, शिष्य के जीवन में किसी प्रकार के संकोच (narrowness) का सूत्रपात नहीं होता। गुरु की सेवा करने का अर्थ प्रत्येक दूसरे मनुष्य में

विद्यमान अपने ही आत्मा की सेवा करना है। गुरु की चेतना विश्वव्यापी होती है; और वह सार्वलौकिक आध्यात्मिक कल्याण में ही निरत रहता है। अतः गुरु की सेवा करना उसके सार्वलौकिक कार्य में भाग लेना है; और सभी मनुष्यों की सेवा करना है। गुरु के कार्य में हिस्सा लेते समय, शिष्य का संसार के संपर्क में रहना आवश्यक हो सकता है; किंतु अपने नियत कार्य के सिलसिले में, संसार का भ्रमण करते हुए भी, गुरु के अनन्तत्व से उसका आंतरिक संपर्क बना रहता है। अतएव, **गुरु के कार्य में भाग लेकर, शिष्य गुरु के अधिक समीप आता जाता है; और उसकी चेतना का एक अविभाज्य भाग बन जाता है।** गुरु की सेवा करना उसकी आंतरिक प्राप्ति करने का (Realising) शीघ्रतम साधन है।

गुरु की आंतरिक प्राप्ति सेवा के द्वारा संभव है.

शिष्य गुरु की जो सेवा करता है, वह न केवल सार्वलौकिक मानवसेवा से संबद्ध रहता है, किंतु वह उसके आध्यात्मिक साध्य का अत्यंत सफल साधन है। जब उसकी सेवा सहज, स्वेच्छास्फूर्त, हार्दिक, निस्वार्थ तथा शर्तरहित होती है, तो उससे उसे जितना आध्यात्मिक लाभ होता है, उतना अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। गुरु की सेवा शिष्य का आनंद है, यद्यपि ऐसी सेवा उसके शरीर और मन के

गुरु के कार्य में हाथ बंटाना

लिए श्रम पूर्ण होती है । असुविधा तथा कष्ट सहकर की जानेवाली सेवा शिष्य की निष्ठा की कसौटी है । सेवा जितनी ही श्रम-साध्य होती है, उतनी ही वह शिष्य के लिए वांछनीय होती है : और, चूंकि शिष्य गुरुसेवा में शारीरिक तथा मानसिक पीडा स्वेच्छातः स्वीकार करता है, उसे आध्यात्मिक तृप्ति का अनुभव होता है ।

गुरु क्या है, तथा वह किस तत्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेसे, गुरु के प्रति अविभक्त तथा एकाग्र भक्ति का भाव रखना संभव हो जाता है । गुरु की यथार्थ महिमा तथा क्रिया का यदि शिष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, तो संभव है; वह अपने अंतस्थ आत्मदेव तथा गुरु के बीच मिथ्या अंतर्विरोध की सृष्टि कर ले; और इस अंतर्विरोध के परिणामस्वरूप, वह अपने मनमें गुरुसंबंधी कर्तव्यों तथा अन्य न्याय-प्रतीत होनेवाले कर्तव्यों के बीच कृत्रिम तथा काल्पनिक संघर्ष का सृजन कर ले । किंतु शिष्य को सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिये, कि गुरु सिर्फ यही चाहता है, कि शिष्य अपने अंतरात्मा एवं शिवात्मा की ही (Higher self) अनुभूति करे, और उसी की प्रेरणाके अनुसार कार्य करे । यदि सच पुछा जाय, तो **गुरु शिष्य के अंतरात्मा का ही साकार स्वरूप है, अर्थात् वह उसके शिवात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । वह वही सत्य है, जो सभी में समान**

मिथ्या अंतर्विरोध

रूपसे विद्यमान है। अतः, गुरु के प्रति भक्ति दूसरे शब्दों में अपने आंतरिक आत्मदेव के प्रति भक्ति है। इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि अपने अंतरात्मा के प्रति—बाहरी निष्ठा-विधि (Foamal allegiance) सच्ची गुरुनिष्ठा के बदले में पर्याप्त हो सकती है।

जब तक ईश्वरानुभूति नहीं हो जाती, तब तक शिष्य को अपने अंतस्थ आत्मदेव का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, और उसे बहुधा उसके कर्तव्य की भांति जो प्रतीत होता है, वह उसके अंतरात्मा तथा उसके चेतना के क्षेत्र के बीच में कपट-पूर्वक प्रविष्ट हो जाने-वाले किसी संस्कार का प्रोत्साहन मात्र है! इसके विपरीत, गुरु तथा शिष्य के अंतरात्मा में कोई अंतर नहीं है; अतः गुरु मूल्य निर्धारण (Valluatio) के विषय में कदापि कोई भूल नहीं कर सकता।

अतएव, शिष्य को अपने अंतरात्मा की प्रेरणा तथा संस्कार की प्रेरणा गुरु की आज्ञा की तुला में तौलना चाहिए। यदि गुरु की आज्ञा तथा अंतरात्मा की प्रेरणा में कोई संघर्ष पैदा हुआ, तो उसे अपने विचारों की पुनः परिक्षा करनी चाहिए; और पता लगाना चाहिए कि उनमें कहां त्रुटि है। जरा निरीक्षण करके विचार पूरा करने से शिष्य को पता लग जायगा, कि **उसके अंतरात्मा की प्रेरणा तथा गुरु की आज्ञा में मूलभूत समस्वरत**

संघर्ष के मौके

(Harmony) है। यदि कभी किसी एकाध प्रसंग में उन दोनों में संघर्ष दिखाई देता है, तो यह निश्चित है, कि या तो उसने अपने अंतरात्मा की प्रेरणा को ठीक से नहीं समझा है, अथवा गुरु की आज्ञा का अर्थ ग्रहण करने में वह असमर्थ रहा हो। ऐसे मौके पर गुरु स्वयं यह चाहता है कि शिष्य हर हालत में, अपने अंतरात्मा की प्रेरणा का अनुकरण करे। कभी कभी, गुरु शिष्य को उच्चतर जीवन के लिए तैयार करने के उद्देश्य से आदेश देता है। ऐसी ही परिस्तिथियों में, शिष्य को अंतरात्मा की प्रेरणा तथा गुरु के आदेश में अस्थायी तथा दृश्यमान विरोध महसूस होता है। किंतु प्रायः गुरु ऐसे आदेश नहीं देता है, जिनके लिए शिष्य की पूर्व आंतरिक तैयारी नहीं रहती।

शिष्यता का सच्चा अर्थ

सद्गुरु नितान्त स्वार्थ-रहित होता है; और हर समय, वह, शिष्य की चेतना तथा उसके अंतरात्मा के बीच पडे हुए आवरण को ही दूर करने के लिए, चेष्टाशील रहा करता है। अतः अंतरात्मा के प्रति तथा सद्गुरु के प्रति कर्तव्यों में वास्तविक विरोध कदापि पैदा नहीं हो सकता। **वस्तुतः अपने अनुसंधान के अंत में, शिष्य को यह मालूम होता है कि उसका गुरु दूसरे रूपमें उसकी अंतरात्मा ही है।** सद्गुरु अपनी नितान्त निस्वार्थता तथा अविच्छिन्न दिव्यता में इतना स्वयंपूर्ण होता है, कि वह अपने खुद के लिए, कुछ भी नहीं

चाहता। और शिष्य के संबध में वह जो कुछ चाहता है, वह केवल यह है, कि वह सर्वोच्च सत्य के प्रकाश में, अपनी पुनर्व्यवस्था करे। **शिष्य बन जाना आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जानेवाले पथ पर चलना शुरू करना है।** सच्ची शिष्यता का यही अर्थ है।

सद्गुरुओं के तरीके

सद्गुरुओं की चेतना सर्वथा व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonal) एवं पूर्णतः विश्वव्यापी (Universal) हुआ करती है। किंतु अपने आध्यात्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अपने कार्य-क्षेत्रको सीमित कर सकते तथा अपने अभिव्यक्त व्यक्तित्व को अपने शिष्यों की आकाँक्षाओं का केंद्र-स्थल बनने देते हैं। **वे अपने संपर्क में आनेवाले साधकों की सहायता करने के लिए, व्यक्तिगत संबंधों तथा अन्य नियत प्रणालियों का उपयोग करते हैं।** वे सदैव ऐसे लोगों की तलाश में रहते हैं, जिन्हें उनकी सहायता की आवश्यकता रहती है, तथा जो उनकी सहायता के अधिकारी होते हैं। वे आध्यात्मिक उत्कंठा के क्षीण से क्षीण स्फुरण को भी दुर्लक्ष्य नहीं करते। वे नानाविध तरीकों से सभी साधकों की आध्यात्मिक वृद्धि को प्रावर्तित तथा प्रोत्साहित करते हैं, और उनके तरीके निश्चित रूप से प्रभावशाली होते हैं, यद्यपि वे दूसरों के लिए आवश्यकतः बुद्धिग्राह्य नहीं होते।

गुरु सहायता करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं

गुरु की सहायता आध्यात्मिक यात्रा को निश्चित तथा सुरक्षित करने में रहती है; और वह यात्री को थोडे ही समय

में लक्ष्य तक पहुंचा देते हैं। गुरु के बिना यात्रा अनिश्चित तथा अरक्षित रहती है, और समय तथा शक्ति का बहुधा अपव्यय होता है। साधक स्वतंत्र रूपसे काफी दूर तक अनुसंधान कर सकता है; किंतु छठी भूमिका को वह गुरु की सहायता के बिना पार नहीं कर सकता। किंतु मध्यस्थित भूमिकाओं में भी, गुरु की सहायता अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती हैं, क्यों कि **गुरु बीच रास्ते में की अटकावों से तथा मार्गवर्ती खतरनाक गर्तो में गिरने से बचा लेता है।** कबीर मार्ग की तीन स्थितियों की तुलना आग की तीन अवस्थाओं से करते हैं। जिस प्रकार पहले सिर्फ धुआँ होता है और आग नहीं रहती, उसके बाद धुंवें से लिपटी हुई आग होती हैं, और अंतमें केवल आग होती है, तथा धुवाँ बिलकुल नहीं बहता, उसी प्रकार, आध्यात्मिक प्रथा की प्राथमिक स्थिति में, प्रगाढ़ अज्ञान रहता है, मध्यस्थिति में ईश्वर का अज्ञानावेष्टित ज्ञान रहता है, तथा अंतिम स्थिति में, केवल सहानुभूति रहती है, जो लेशमात्र भ्रम से भी अवगुंठित नहीं रहती। चूंकि पथ अनेक भ्रमों से आकीर्ण रहता है, अतः गुरु के मार्ग-प्रदर्शन के बिना साधक कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता। गुरु मार्ग की विपत्तियों से परिचित रहता है; और वह साधक को उनसे बचा ले जाता है।

उनकी सहायता का प्रकार।

अंतर्दृष्टि के खुलने के पहले, मन लक्ष्य को अनन्तवत् समझता है। अनन्त का विचार किसी ऐसी लाक्षणिक

प्रतिभापर अवलंबित रहता है, जिससे विशालता का बोध होता है, जैसे आकाश या समुद्र। यद्यपि अनन्त के ये विचार सुस्पष्ट तथा सुनिश्चित होते हैं, तथापि अनन्त के स्वतंत्र एवं प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उनका निरस्त होना आवश्यक है। साधक आत्मा को प्रत्यक्षतः तभी देखता है, जब उसका आत्मचक्षु खुल जाता है। आत्मचक्षु खुल नेपर जो कुछ वह देखता है, उससे उसका मन चौंधिया जाता है। जो कुछ वह देखता है, वह उतना भी स्पष्ट नहीं दिखाई देता है, जितना स्पष्ट अंतर्चक्षु के खुलने के पूर्व दिखाई देता था। आत्मा की चकाचौंध से मन चौंधिया जाता है, स्पष्ट विचार करने में वह असमर्थ हो जाता है, और आत्मदर्शन को आत्मानुभूति समझने की भूल कर बैठता है। इसी प्रकार, मार्गवर्ती स्थिति को ही मार्ग का अंत समझ बैठने की भ्रांत-धारणा मनमें समा जाती है। सूफी में मार्ग की यह स्थिति 'मुकामे आफसन,' अर्थात भ्रम का निवासस्थान कहलाता है। पथ की ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में ही गुरु की आवश्यकता होती है। ऐसे मौके पर गुरु, साधक को एक धक्का देता हैं, जिससे वह रास्ते में रुके न किंतु अपनी यात्रा जारी रखे।

भ्रमनिकेतन

सच पूछा जाय तो प्रत्येक मध्यवर्ती आंतरिक भूमिका में साधक को अटकने तथा आवश्यक विलंब करने का डर रहता ही है क्योंकि वह अत्यंत चित्ताकर्षक होती है। प्रत्येक भूमिका एक प्रलोभन पाश के तुल्य है। गुरु साधक से या

तो इनको पार करवा लेता है या इनके बीच से उसे बिना किसी अनावश्यक विलंब के निकाल ले जाता है। **चलना तो खुद साधक को पडता है किंतु पूर्व-प्राप्त सहज ज्ञानों तथा अन्तःप्रज्ञा को स्थिर तथा दृढ करने में एवं अप्रत्याशित किंतु अवारणीय अग्रगमन के लिये चेतना को क्षिप्रतापूर्वक सन्नद्ध करने में गुरु की देन निहित रहती है।**

गुरु की देन

गुरु शिष्य को माया से निकालने के लिए माया का ही उपयोग करता है। वह स्वयं तो अच्छे और बुरे से परे रहता है। किंतु कभी कभी वह ऐसी भी आज्ञाएँ देता है जो उसके शिष्यों की "सुबुद्धि" (Good sense) को अस्वीकार्य तथा आश्चर्य-जनक सी मालूम होती हैं। ऐसे प्रसंगों पर, गुरु की आज्ञाओं को अभियुक्त बनाकर अपनी परिमित बुद्धि के न्यायालय में उपस्थित करना उचित नहीं है। शंका संशय–शून्य श्रद्धा के साथ उनका नम्रतापूर्वक पालन करना ही शिष्य का परम कर्तव्य है। निम्न–लिखित सुप्रसिद्ध उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

शिष्यों की संशय-रहित श्रद्धा।

कुरान में एक कथा है कि अब्राहम को अपने प्यारे बेटे इस्माइल की खुदाकी खातिर, कुरबानी कर देने का हुक्म मिला। जब अब्राहम अपने लड़के का गला काटने को तैयार हुए तब ऐसा चमत्कार हुआ कि लड़का तो बच गया और

उसकी जगह एक बकरे की कुरबानी हो गई। गुरु शम्सत ब्रेज़ को प्रसन्न करने तथा उसका अनुग्रह प्राप्त करने की गरज से मौलाना रूमी ने अपने गुरु की भैकरे से शराब उठा लाने की, आज्ञा का पालन करने में जरा भी आना-कानी नहीं की। अपने समय में इस्लामी दुनिया के एक बडे भारी धर्मनिष्ठ शास्त्री होने के नाते मौलाना रूमी की आध्यात्मवादी मुसलमानों में बडी प्रतिष्ठा थी, और इस्लाम धर्म में मुसलमानों के लिए शराब पीना निषिद्ध (हराम) है। अतः अपने कंधे पर शराब का प्याला लेकर सड़क पर से चलना, मौलाना के लिए एक कठोर कार्य था। किंतु यह कठिन परीक्षा थी, जिसमें वे उत्तीर्ण हुए।

गौसाली शाह के गुरु गंगा नदी के किनारे एक कुटी में रहते थे। उन्होंने अपने शिष्य को नदी की बीच धार से एक घड़ा भर पानी पीने के लिये लाने का हुक्म दिया। आधी रात का वख्त था और वर्षा की वजह गंगा में खूब बाढ़ आयी हुई थी। शिष्य पहले तो हिचकिचाया किंतु बाद में साहस बटोरकर तथा गुरु की सर्वज्ञता पर विश्वास करके असंभव को संभव करने के लिए उद्यत हुआ। प्रकुप्त जल-प्रवाह के भीतर वह उतर नहीं पाया था कि नदी में उसे आश्चर्य-जनक परिवर्तन दिखाई दिया। बाढ़ की क्षुब्ध तरंगों की जगह नदी में केवल एक पतली जल धारा बह रही थी। उसका घड़ा नदी के तले को छू जाता था। बीच धार की

तलाश में शिष्य नदी के दूसरी तह तक आ गया। इस प्रकार जब कि वह खोज-तलाश में मशगूल था उसके गुरु ही वहाँ आ उपस्थित हुए और विलंब का कारण पूछा। जब शिष्य ने बतलाया कि बीच धार निश्चित करना मुश्किल हो गया तो गुरुने पतली धार से ही हाथों-द्वारा पानी भरने की इजाजत दी और पानी भरने में स्वयं शिष्य की सहायता करने लगे। कुछ बहाना बताकर गुरु शिष्य को घड़ा भर कर तुरंत आने के लिए कह कर चलते बने। जब गौसाली शाह कुटी में लौटा तो अन्य शिष्यों से यह सुनकर उसके आश्चर्य की सीमा न रही कि उनके गुरु उनकी गैरहाजरी में उन्हें छोड़कर एक क्षण के लिए भी बाहर नहीं गये किंतु वे लगातार उसके बारे में उनसे बातचीत करते रहे।

गुरु गूढ़ तरीकों की अपेक्षा साधारण तरीके ही पसंद करते हैं।

उक्त दृष्टान्तों से मालूम होगा कि गुरु विरले प्रसंगों पर शिष्यों के अहँकार को नष्ट भ्रष्ट करने तथा उन्हें पथ में आगे बढाने के लिए अपनी गूढ शक्तियों का भी उपयोग कर सकते हैं। किंतु, नियमतः, वे अपनी दिव्य शक्तियों का बहुतही कम उपयोग करते हैं; और वे उनका उपयोग तब तक हरगिज नहीं करते जब तक ऐसा करना आध्यात्मिक कारणों से निहायत जरूरी नहीं। सामान्यतः साँसारिक मनुष्यों के साधारण तरीकों से ही उनका काम निकल जाता है। किंतु साधारण

तरीकों का उपयोग करते हुए भी वे महान ज्ञान, तीक्ष्ण विनोद-भाव, असीम तितिक्षा तथा पूर्ण व्यवहार कौशल से काम लेते हैं। इतना ही नहीं किंतु वे अपने शिष्यों की सहायता करने में बड़े कष्ट उठाते तथा परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुरूप असंख्य तरीकों से वे अपने आपको व्यवस्थित करते हैं।

उपर्युक्त कुछ बातें महान आध्यात्मवादी वहलुल की कथा से स्पष्ट हो जायगी। वहलुल अपने कुछ निजी कारणों से फारस के गण्यमान्य व्यक्तियों से अपना संपर्क स्थापित करना चाहते थे। राजा की सभाओं में ही वे गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित होते थे। अतः राजसभा में जाने से ही वहलुल का काम सधता था। किंतु दुर्भाग्यवश वहलुल का सिर गँजा था और किसी भी केशहीन व्यक्ति को राज-सभा में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। राजाके सिरमें एक भी बाल न था और दूसरों को केश-हीन देखकर उसे अपने गंजेपन का ख्याल आ जाता था और वह सभा का आनंद नहीं ले पाता था। राजा इस विषयपर इतना तुनुक मिजाजी था कि किसी भी गँजे व्यक्ति को सभा के भीतर आने की इजाजत नहीं थी और जब गँजा सिरवाला वहलुल अपने गंदे मैले कपड़ों में सभा में पहुंचा तो वह खदेड़ दिया गया। किंतु सभा तीन दिनों के लिये लायी गयी थी। वहलुल ने किसी सज्जन से अच्छी पोशाक

वहलुल की कथा

तथा कृत्रिम केश उधार लिये। रूप बदलकर, सजधज और ठाट-बाट के साथ वहलुल दूसरे दिन सभा में गया।

सभा के कार्यकाल में किसी नेभी वहलुल को नहीं पहचाना, और सभा में उपस्थित समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियों पर वहलुल ने अपनी सज्जनता की धाक बैठा दी। वह इतना ज्यादा सन्मान्य और प्रिय बन बैठा कि स्वयं राजा ने उस का आदरपूर्वक स्वागत किया और अपने पास बैठने का निमंत्रण दिया। अपनी जगहपर बैठने के पश्चात् ही राजा की ओर देखकर वहलुल ने आंख मारी। राजा इस आंख मारने का कुछ भी मतलब नहीं समझा। उसे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्ति के अंग-विक्षेप का कुछ तो अर्थ होना ही चाहिए और यह सोचकर कि इस संकेतके प्रत्युत्तर की आवश्यकता है वह भी वहलुल की ओर देखकर आंख मारने लगा। राजा के पास बैठनेवालों ने आँख मारने का यह आदान-प्रदान देखा। उन्हें कुछ ऐसा लगा मानो उन्हें भी ऐसा ही करना चाहिये। उनका इस प्रकार आँख मारने का यह क्रम-उपक्रम पूरी भीड में व्याप्त हो गया और पांच मिनिट तक आँख मारने के सिवाय और कुछ नहीं हुआ। तब वहलुल ने चिल्लाकर कहा, "महाशयो, ठहरो। तुम आँख क्यों मारते हो?" गण्यमान्य व्यक्तियों ने जवाब दिया, आप जैसे महापुरुषों को आँख मारते देखकर हम भी आँख मार रहे हैं। हम तो केवल आपकी नकल कर रहे हैं। इसपर

तुरँत अपना बाल-वाला टोप सिरसे निकालकर वहलुल ने कहा "हम दोनों गँजे है। हमारी नकल करो" सभी गण्यमान्य सज्जन चले गये और तीसरे दिन वे सभी अपने सिर मुंड़ाकर आये। तब वहलुल राजा से बोले—"हम दोनों तो स्थायी रूपसे गंजे हैं, किंतु इन सब लोगों को गँजा रहने के लिए हर दिन अपना सिर मुंडाना पडेगा।" इस प्रकार वहलुल अपने विनोद तथा व्यवहार कुशलता के बलपर उन लोगों के निकट पहुँच गया जिन्हें वह मदद करना चाहता था।

शिष्यों की त्रुटियों से बर्ताव

गुरु शिष्यसे संपर्क स्थापित करने तथा उसे आध्यात्मिक मार्ग में खींचलाने के लिए कुछ भी नहीं उठा रखता। यदि गुरु के प्रति शिष्य का प्रेम नष्ट न हो जाय तो उसकी आध्यात्मिक उन्नति निश्चित रहती है। अतः गुरु उन तमाम बाधाओं को एक-एक करके दूर कर देता है, जो शिष्य की सर्वांतःकरण-युक्त भक्ति को अवरुद्ध करती हैं। **वे बाधाएं उनके पथ के निकट रोड़े न बनने पावें, इसी लिए वह अकसर शिष्य के वैयक्तिक स्वभाव की स्तुति करता है।** कभी कभी वह शिष्य की अहंवृत्ति को साथ भी देता है किंतु यह उसके अज्ञान को नष्ट अस्थायी रूप से सहारा देने तथा उसकी प्रवृत्ति को अंतिम रूप से नष्ट करने के लिए शिष्य को तैयार करने के ही उद्देश से वह ऐसा करता है, जैसे वध किये

जाने के पहले बलिदान के बकरे खूब खिलाये–पिलाये जाते हैं। अच्छे व बुरे से परे रहने के कारण गुरु शिष्य की त्रुटियों और दोषों से अस्थिर नहीं होता। असीम तितिक्षा के साथ वह उन्हें सहन करता है और अनंत समय तक धीरज रखने की उसमें क्षमता होती है। वह जानता है कि शिष्य के साथ में दृढता के साथ आरूढ होते ही उस पथ की त्रुटियों और दुर्बलताओं को दूर करने में कुछ भी समय नहीं लगेगा।

चित्तशु-द्धि की विधि

किंतु गुरु को इस बात का संतोष होते ही कि शिष्य पथ पर दृढता-पूर्वक आरूढ हो गया है वह शिष्य के चित्त को दोषों से मुक्त करने में जरा भी समय नहीं लगाता। जिस प्रकार ज्योंही शस्त्रवैद्य के निरीक्षण में रोगी आता है, त्योंही वह अपनी छुरी लेकर घाव की चीरफाड़ में लग जाता है, और वह रोगी के रोने चिल्लाने तथा विरोध की जरा भी परवाह नहीं करता; उसी प्रकार **गुरु भी शिष्य की चित्त-शुद्धि कठोरता-पूर्वक करता है।** किंतु आगे चलके शिष्य को पता चलता है, कि गुरु की कठोरता उसके कल्याण के ही लिए थी अतः वह अपने गुरु से कभी विमुख नहीं होता और गुरु के द्वारा की गई अप्रिय तथा पीडादायक चित्त-शुद्धि की क्रिया से वह गुरु के अधिक निकट आता है।

गुरु का साधारण तरीका बहुत प्रिय, मधुर तथा प्रभावशाली होता है। आध्यात्मिक दिशा में शिष्य की विशेष

प्रगति से गुरु बहुत प्रसन्न होता है। **शिष्य की यथोचित प्रशँसा के द्वारा गुरु, शिष्य के उन आध्यात्मिक गुणों को स्थायी रूप देता है, जिन्हें वह प्राप्त कर रहा हो, तथा भविष्य में किसी भी परिस्थिति का सामना कर सकने का उसमें आत्म-विश्वास पैदा करता है।** किसी उदात्त भाव का उद्रेक, आत्म-विसर्जन का भाव, वीरोचित बलिदान असाधारण धैर्य, प्रेम या श्रद्धा को प्रकट करनेवाली घटना-इन में से कोई भी बात गुरु को प्रसन्न करने तथा उनकी निर्मल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है; और वे शिष्यों के सद्गुणों को देखकर प्रायः उन सद्गुणों को प्रोत्साहित करने तथा स्थायी रूप देने के लिए शिष्यों की प्रगट रूपसे प्रशंसा करते हैं। शिष्य गुरु की प्रशंसा की कीमत करने लगता है; और अन्य किसी की अपेक्षा गुरु की स्वीकृति से उसे अधिक आनन्द प्राप्त होता है। किसी दूसरी अवस्था में शिष्य के लिए जो करना असंभव होता है, वह उस कार्य को सिर्फ यह जान कर करने में समर्थ होता है, कि उससे गुरु खुश होंगे। गुरु को प्रसन्न करने के लिये, वह कठिन से कठिन कष्ट झेलने के तथा बड़े से बड़े लोभ का सहर्ष सँवरण करने के लिए तैयार रहता है।

प्रशंसा के द्वारा सहायता

चूँकि गुरु जिज्ञासु के लिए सर्वव्यापी आत्मा का एक प्रतीक होता है, अतः गुरु के प्रति अपने आपको यथोचित,

व्यवस्थित करने की (adjustment) उसकी समस्या, तथा अपने अंतरात्मा की अनुभूति करने एवं अन्य रूपों में विद्यमान आत्मा के प्रति अपने आपको व्यवस्थित करने की उसकी समस्या में कोई भेद नहीं है। गुरु की भक्ति करके वह मानो इन सभी समस्याओं की मौलिक एकता को बोधपूर्वक हृदयंगम कर रहा है। **और मानो मानसिक रणकौशल** (Psychologica Strategy) के **दृष्टिकोण से वह उन्हें भिन्न भिन्न समस्या समझ कर एक दूसरे से अलग कर के उन्हें नहीं सुलझा रहा है। अतः वह विरोधी दावों के बीच कोई अस्थायी समझौता नहीं कर रहा है, किंतु सच्चे समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है।** इस समन्वय (Integration) की प्राप्ति में शिष्य की सहायता करने के लिए गुरु को शिष्य के समस्त आदर्शवाद (Idealism) का आश्रय-केंद्र बनना पडता है, क्योंकि उसके लक्ष्य के बीच के व्यवधानों को छिन्नभिन्न करने के लिए अंतःकरण कि शक्तियों की अनन्त एकाग्रता आवश्यक है। अपने गुरु के अतिरिक्त अन्य दूसरे गुरुओं के प्रति भी शिष्य स्वाभाविक रूप से सम्मान अनुभव करेगा ही। किंतु इससे उसके स्वयं के गुरु के दावे की सर्व-श्रेष्ठता न तो सीमित ही होती और न भंग होती है। सभी सिद्धगुरु ज्ञान में एक ही हैं और उनके बीच श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का प्रतिपादन करना मिथ्या है। किंतु यद्यपि इस दृष्टिकोण से एक गुरु दूसरे गुरु की अपेक्षा श्रेष्ठ-

सभी समस्याओं का हल

तर नहीं है, तथापि अपने निजी प्रेमी जनों के लिए शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने ही गुरु को तब तक सर्वश्रेष्ठ समझे जब तक वह द्वैत का अतिक्रमण करके समस्त जीवन की एकता का ज्ञान प्राप्त न कर ले। **जीवन पर अनेक विरोधी दावे हैं। इन दावों में से यदि कोई एक दावा अत्यंत सर्वश्रेष्ठ रूप धारण कर ले, तो अंतःकरण की शक्तियों का अपव्यय होते देर न लगेगी।** अतएव गुरु का अनन्य ध्यान अंतःकरण की बिखरी हुई शक्तियों को इकट्ठी करने के लिए नितान्त आवश्यक है। कुछ बिरले प्रसंगों पर, कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण, स्वयं गुरु किसी खास शिष्य से संबद्ध कार्य में भाग लेने का निश्चय करे, अतः एक ही शिष्य का दो या अधिक गुरुओं से अनुषक्त होने के भी उदाहरण पाये जाते हैं। किंतु यह कोई नियम नहीं है, सिर्फ अपवाद है। **और जब एक ही शिष्य के एक से अधिक गुरु होते हैं, तो वे ऐसी सावधानी के साथ, शिष्य का कार्य विभाजन कर देते हैं, कि शिष्य विभिन्न दावों की खींचतान का शिकार नहीं होता।**

गुरु का सर्वश्रेष्ठ दावा

अहंकार का स्वभाव और उसका अंत.

भाग १ ला

अहंकार संघर्ष का केन्द्र है।

पूर्व मानवीय अवस्था में चेतना को अनुभव होते हैं। किंतु इन अनुभवों का केंद्रीय "अहम्" से प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। कुत्ता क्रुद्ध होता है किंतु वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं क्रुद्ध हूँ। कुत्ता भी अनुभवों के ही द्वारा सीखता है और एक अनुभव की दूसरे अनुभव पर होनेवाली क्रिया को स्पष्ट करता है। किंतु यह क्रिया परस्पर संबद्ध चित्तचिन्हों या संस्कारों की अर्धयांत्रिक खींचतान का परिणाम होती है,। वह अनुभवों के बुद्धी संबंध समन्वय से भिन्न होती है। अनुभवों का सबोध समन्वय तो अहंभाव के विकसित होनेपर ही संभव होता है। **विश्लिष्ट अनुभव चिन्हों की पृथक् क्रिया को बुद्धिपूर्वक व्यवस्थित करने का सर्व प्राथमिक क्रम उन्हें चेतना के केंद्र से संबद्ध करना है।**

अहंकार का उद्गम

चेतना का केंद्र सीमित अहंकार के रूप में प्रकट होता है। मानवीय चेतना के आरंभ के साथ ही साथ अहंभाव भी स्पष्ट, निश्चित तथा दृढ हो जाता है।

अहंकार-केंद्रित्व पूर्णता के सिधान्त से रहित होनेपर मानवीय चेतना विभिन्न अनुभवों द्वारा अंकित संचित चित्त-चिन्हों का मात्र संग्रहालय बन जाती है। अहंकार-केंद्रित, पूर्णता का सिद्धान्त अनुभवों का व्यवस्थापन करने के रूपमें अपने आपको व्यक्त करता है। भिन्न-भिन्न अनुभव खंडों को एकत्रित करके उन्हें एक समावेशात्मक रूपमें धारण करने तथा उनमें पारस्परिक संबंध स्थापित करके उनका मूल्य निरूपण करने की योग्यताहि अनुभव को समझने की विधि है।

अहंकार-निर्माण की विधि.

प्रवृत्ति-मूलक तथा निवृत्ति मूलक अनुभवों के दासत्व से चेतना इस प्रकार आक्रान्त हो जाती है कि उनका मूल्य आंकना असंभव हो जाता है। अतः द्वन्द्वात्मक अनुभवों का संयुक्त करना ही चेतना को प्रवृत्तियों और निवृत्तियों के घात-प्रतिघातसे मुक्त करने का एक उपाय है। अतः अनुभवों को संयुक्त करने का आरंभिक प्रयत्न अहंकार के निर्माण के द्वारा संपन्न होता है। अहंकार ऐसे संयोग का केंद्र और आधार होता है।

अहंकार मानसिक जीवन की समस्त घटनाओं के एक प्रकट तथा अवश्यंभावी परिणाम के रूपमें एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उत्पन्न होता है। **जहाज में बैलास्ट** (Ballast), **जहाज को स्थिर रखने के लिए उसकी पेंदी पर रखे हुए पदार्थ का** जो कार्य है वही कार्य मानव जीवन में अहंकार का

है। बैलास्ट जहाज को बहुत ज्यादा डांवाडोल होने से बचाता है, और उसके बिना जहाज आवश्यकतासे अधिक हल्का और अस्थिर हो जाय संभव है। आंधी, तूफानों के जोर से उलट भी जाय। इसी प्रकार अहंकार के अभाव में द्वैत-युक्त अनुभवों के प्रचुर वैषम्य के अनन्त प्रहारों से अंतःकरण की शक्तियां क्षत विक्षत तथा छिन्न भिन्न हो जायँ। अहंकार वह **अस्थायी संकलन केंद्र** है, जो समस्त अनुभवों को संगृहीत करता तथा पाशविक चेतना से उत्तराधिकृत सापेक्षतः स्वतंत्र तथा असंबद्ध स्वभाविक ज्ञानों से उत्पन्न सक्रिय प्रवृत्तियों को एकत्रित करता तथा एक में बाँधता है। **अहंकार का निर्माण चेतना-युक्त क्रियाओं को एक हद तक स्थिर तथा समभार बनाता है जिससे क्रम-पूर्ण एवं व्यवस्थित जीवन संभव होता है।**

अहंकार एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उत्पन्न होता है।

अतएव अहंकार की उत्पत्ति को निष्प्रयोजन समझना आवश्यक भूल है। यद्यपि वह अंतर्हित होने के लिए आविर्भूत होता है, तथापि वह अस्थायी रूपसे एक आवश्यकता की पूर्ति करता है। आत्मा की लंबी यात्रा में यह आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अहंकार कोई स्थायी विघ्न नहीं है। आध्यात्मिक प्रयत्न से उसका निवारण तथा अतिक्रमण किया जा सकता है। किंतु अहंकारके

अनिवार्य आपत्ति

निर्माण की अवस्था को एक ऐसी **आवश्यक बुराई** समझना चाहिए जिसका कुछ समय तक अस्तित्व रहता ही है।

इस भाँति अहंकार एक आवश्यकता को सूचित और पूर्ण करता है। चेतना के आगे विकास के लिए अहंकार का जन्म आवश्यक हो जाता है। **किंतु अहंकार अपने को शरीर समझने के मिथ्या विचार का आश्रय होता है।** यह मिथ्या विचार उन नाना भ्रमों का जनक है जो चेतना को विकृत कर देते हैं। **यह अहंकार का स्वभाव है कि वह शेष अन्य जीवों से अपना वैषम्य अनुभव करके अपने को उनसे पृथक समझता है।** इस प्रकार यद्यपि वह वैयक्तिक अनुभव को पूर्ण और संयुक्त करने का भीतरी प्रयत्न करता है तथापि वह बाह्य तथा आंतरिक जीवन के बीच एक कृत्रिम भेद उत्पन्न करने में सफल होता है। यह उसके अपने निजी अस्तित्व का अनुभव करने तथा उसकी प्राप्ति करने के प्रयत्न का परिणाम है; और समस्त जीवन समष्टि में इस पार्थक्य के उत्पन्न होने से उस आभ्यंतर वयक्तिक जीवन पर उसकी प्रतिक्रिया होती है, अहंकार जिस का निर्देश तथा नेतृत्व करता है।

अहंकार-केंद्रित पूर्णता का आधार भ्रम होता है।

सदैव अनुभव की एकता तथा पूर्णता स्थापित करने का यत्न करते रहने पर भी अहंकार का यह उद्देश कदापि सिद्ध नहीं

होता। और यद्यपि वह एक प्रकार की समभारता स्थापित करनें में सफल होता है तथापि यह समभारता क्षणिक तथा अस्थायी हुआ करती है। **जब तक अनुभव अहंकार मूलक रहता है तब तक आंतरिक संघर्ष की सतत विद्यमानता रहती है।** और यह आंतरिक संघर्ष ही अहंकार की उपलब्धियों की अपूर्णता का द्योतक है। प्रतिक्षण मनुष्य का मन एक के बाद दूसरे संघर्ष से ग्रस्त होता रहता है।

सर्वसाधारण के मन ही नहीं किंतु असाधारण महा-पुरुषों के मन भी परस्पर विरोधी इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों के द्वारा पीडित रहते हैं। कभी कभी अंतःकरण के उद्वेग का दबाव इतना उग्र होता है और मानसिक संघर्ष इतना प्रबल होता है कि मनुष्य उसे सहन न कर सकने के कारण उसके वशीभूत हो जाता है। जिसका परिणाम या तो आंशिक या संपूर्ण ध्वंस होता है अथवा पूर्ण पागलपन। साधारण समझदार मनुष्य तथा कथित पागल के बीच कोई मौलिक भेद नहा है। दोनों को एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना करना पडता है। **किंतु एक न्यूनाधिक सफलतापूर्वक अपनी समस्याएं सुलझाने में समर्थ होता है और दूसरा उन्हें सुलझाने में असमर्थ रहता है।**

अहंकार संघर्षों का आश्रय-स्थल बनता है।

अहंकार मिथ्या मूल्य निरूपण तथा गलत चुनाव के द्वारा अपने आंतरिक संघर्षों को सुलझाने की चेष्टा करता है।

अहंकार की यह विशेषता है कि वह समस्त सार-शून्य पदार्थों को सार-पूर्ण-तथा समस्त सार-युक्त पदार्थों को निस्सार समझता है। सत्ता, ख्याति, संपत्ति, योग्यता तथा अन्योन्य सांसारिक सिद्धियां एवं उपलब्धियां वास्तव में निःसार है किंतु अहंकार उनका संग्रह कर के प्रसन्न होता है और 'मेरा' कहकर उनसे चिपक जाता है। इसके विपरीत, सच्ची आध्यात्मिकता आत्मा के लिए सर्वोच्च महत्त्वकी वस्तु है किंतु अहंकार उसे सारविहीन समझता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य आध्यात्मिक महत्व का कार्य करते करते शारीरिक या मानसिक सुख प्राप्त करना चाहता है, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट का अनुभव करता है, तो अहंकार बीच में ही कूद पडता है और महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कार्य को त्याग कर भी महत्व हीन शारीरिक मानसिक सुख प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक तथा मानसिक आराम तथा अन्य लौकिक सिद्धियां एवं उपलब्धियां बहुधा आवश्यक होती हैं। किंतु आवश्यकता और महत्वता में बहुत ही अंतर है; वे स्वयमेव महत्वपूर्ण नहीं है। अहंकार को अनावश्यक जंचनेवाली आध्यात्मिकता आत्मा के लिए वास्तव में महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि अहंकार अज्ञान के मौलिक एवं गंभीर सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता हैं। **महत्वपूर्ण की अपेक्षा महत्वहीन की उसकी पसंदगी ही उसके अज्ञानको जाहिर करती है।**

अहंकार गलत मूल्य-निरूपण के द्वारा अपने संघर्षों को सुलझाने का यत्न करता है

ऐसे मन बहुत विरल हैं जिनकी क्रिया एकता-युक्त होती है, क्यों कि अधिकांश मनुष्यों के मन उपचेतनमन की शक्तियों के द्वारा संचालित तथा शासित होते हैं, और मानसिक जीवनकी गति तथा दिशाको निर्दिष्ट करनेवाली गुप्त शक्तियों-पर विजय प्राप्त करनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य बहुत कम हुआ करते हैं। **उपचेतन मनकी आंतरिक शक्तियों के सज्ञान नियमनके द्वारा ही संघर्ष का अंत संभव है।** और मन में होनेवाले समस्त संघर्षोंके संबंध में यथार्थ मूल्य निरूपण अर्थात् सतसद्विवेकका गाढ अभ्यास करते रहनेसे ही ऐसे नियमनमें स्थायी रूपसे सफलता प्राप्त हो सकती है।

वास्तविक मूल्य निरूपण के द्वारा संघर्ष सुलझाया जा सकता है।

मन को संघर्ष से मुक्त करने के लिए ठीक चुनाव करना तथा महत्वहीन का बहिष्कार करके, बिना किसी भूल-चूकके, वास्तव में महत्वपूर्ण को पसंद करना तथा उसे ग्रहण करना परम आवश्यक है। **हमारा चुनाव विवेक-सम्मत तथा दृढ होना चाहिए, और हमारा चुनाव सभी प्रकार के संघर्षों में विवेक सम्मत तथा दृढ होना चाहिये चाहे संघर्ष महत्वपूर्ण हो या वह महत्वहीन हो।** हमारे चुनाव का विवेक सम्मत होना इसलिए जरूरी है कि सच्चे तथा स्थायी मूल्यों के ग्रहण के द्वारा ही ऐसी भारतुल्यताकी प्राप्त संभव है जो मानसिक जीवनके वैद्युतिक तथा

विधायक प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करती। विवेकरहित चुनाव यदि सबल हुआ तो थोडे समय के लिए संघर्ष मिट जाता है। किंतु इसका परिणाम आगे चलकर यह होता है कि जिवनका क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है तथा समग्र व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है और इसका पूर्ण विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके सिवा संघर्ष निश्चिततः किसी दूसरे रूपमें प्रकट होता है, यदि वह विवेकपूर्वक सुलझाया नहीं जाता। इसके विपरीत, विवेक सम्मत सुलझावमें, मिथ्या मूल्योंमें से यथार्थ मूल्यों को छांटना और अलग करनेकी अंतर्दृष्टि की जरूरत पडती है। इससे स्पष्ट है कि इच्छाओं के संघर्षकी समस्या मूल्यों के संघर्षकी समस्या है। **अतः मानसिक संघर्ष के सुलझावके लिए जीवनके वास्तविक अर्थका गंभीर शोध आवश्यक है।** ज्ञान के ही द्वारा मन संघर्ष से मुक्त किया जा सकता है।

सही चुनाव के प्रति निष्ठा।

एक बार सही चुनाव कर चुकने पर उस चुनाव के प्रति दृढ निष्ठा रखना तथा स्थिरतापूर्वक उसे अपनाये रहना नितान्त आवश्यक है, क्यों कि अन्य पर्यायों का बहिष्कार करके तथा किसी विशिष्ट जीवनक्रमका चुनाव करके मनकी प्रतिद्वन्द्वी प्रवृत्तियां हटायी जरूर जा सकती हैं, किंतु उस चुनावकी सक्रियता तथा सफलता में वे विघ्न डालना बंद नहीं कर देतीं और अभी अभी तो, प्रतिस्पर्धाशील आंतरिक शक्तियोंकी प्रचंडताके

कारण, यह खतरा भी रहता है कि हमारा चुनाव चौपट हो जाय तथा हमारा निर्णय एकदम उलटजाय। राजयकी इस शक्यता के विवरणके लिए यह आवश्यक है कि मन का अनुभव सिर्फ यथार्थ मूल्य या सही चुनावसे दृढ निष्ठापूर्वक चिपका रहे। **इस प्रकार, मानसिक संघर्ष के हल के लिए न केवल सच्चे मूल्यों के ज्ञान किंतु उन मूल्यों के प्रति अटल निष्ठा आवशक है।**

छोटे या बडे सभी विषयों में विवेकयुक्त तथा दृढता-पूर्ण चुनाव के लगातार अभ्यासकी आवश्यकता है, क्योंकि **जीवन की साधारण "चिंताएं" उन गंभीर "समस्याओं" से महत्व में किसी भी प्रकार कम नहीं हैं जो संकटके समय उपस्थित होती हैं।** विवेकपूर्ण तथा दृढ चुनावके सविराम अभ्याससे मानासिक संघर्षकी जडें पूरी तरह नहीं उखड सकतीं। वास्तविक मूल्यों का जीवन तभी सहज होता है जब सही मूल्य चुननेका अटूट अभ्यास मनुष्यका स्वभाव बन जाता है, और साधारण वस्तु-ओं से संबंध रखनेवाला संघर्ष भले ही मानसिक क्लेश पैदा न करे, किंतु तोभी वह एक किस्मकी अस्थिरता का भाव, या कहीं कुछ कसर रह गयी है,—ऐसी भावना उत्पन्न करता है। सच तो यह हैं कि सामान्य वस्तुविषयक संघर्षोंको चेतनाकी सतह में हम शायद ही कभी लाने का कष्ट करते हैं

सभी विषयों में यथार्थ मूल्य निरूपणकी आवश्यकता

और ये संघर्ष मानों परदे की ओट से हमारे जीवन संबंधी साधारण धारणा पर अपनी छाया डालते हैं। **हमें ऐसे संघर्षों को भी चेतना की सतह में लाना चाहिए और उनका सीधा सामना करके उन्हें यथोचित ढंगसे सुलझाना चाहिये।**

संघर्षको चेतना की सतहपर लाने का यह मतलब नहीं है कि जहां संघर्ष है ही नहीं वहां हम संघर्ष की कल्पना कर लें। **प्रस्तुत कार्यों या विचारों में हमारे समूचे हृदयका न लगना या संपूर्ण ध्यान का न जमना किसी सच्चे गुप्त संघर्षकी विद्यमानता की निश्चित सूचना है।** ऐसा समय आनेपर जीवनपर प्रतिबंध लगा सा लगता है या जीवन के संकीर्ण होने का भाव महसूस होता है। ऐसे अवसरोंपर मानसिक अवस्थाका अंतरावलोकन के द्वारा विश्लेषण करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा विश्लेषण विषय-संबंधी गुप्त संघर्षों को प्रकाश में ला देता है।

गुप्त संघर्ष

जब, संघर्ष इस प्रकार प्रकाश में लाये जाते हैं तब विवेक-युक्त तथा सही चुनावके द्वारा उनका सुलझाया जाना संभव हो जाता है। किंतु संघर्षोंके संतोषप्रद सुलझावके लिए प्रेरक शक्ति या प्रोत्साहन एक अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता है। ऐसी प्रेरणा या प्रोत्साहन किसी व्यापक आदर्शको अपनाने की उत्कट आकांक्षा से ही प्राप्त हो सकता है।

निरा विश्लेषण चुनावमें सहायक हो सकता है, **किंतु हमारा चुनाव एक शुष्क और निष्फल बौद्धिक पसंदगी बना रहेगा यदि वह किसी ऐसे आदर्श के प्रति उत्साहके द्वारा सजीव न बनाया गया जो मानवीय व्यक्तित्व की गंभीरतम तह तथा महत्वपूर्ण मर्मस्थलको प्रभावित करनेवाला न हो।** आधुनिक मनोविज्ञानने संघर्षके कारणोंको ढूंढ निकालने की दिशामें बहुत कुछ किया है, किंतु, उत्साहको जाग्रत करने या जीवनको सरस बनाने का अनुसंधान करना तथा उन्हें खोज निकालना अभी भी उसके लिए बाकी है। यथार्थ में तो यह मानव-जातिके उद्धारकों का एक रचनात्मक कार्य है।

आदर्श एक प्रेरक शक्ति है।

सच्चा आदर्श स्थापित करना सही मूल्य निरूपणकी शुरुआत है। सच्चे मूल्य निरूपणकी शुरुआत गलत मूल्य निपरूणके द्वारा अपने आपको प्रकट करनेवाले अहंकार की रचनाओंको अन्यथा करना है। **जीवनके सच्चे मूल्योंको व्यक्त करने वाला कोई भी कार्य उस अहंकारके उच्छेदमें सहायक होता है जो सदियों के अज्ञानपूर्ण कार्योंका परिणाम है।** जीवन अहंकार के पिंजडे में सदैवके लिये कैद नहीं रह सकता, उसे मुक्ति की दिशा में, कभी न कभी, प्रयत्न करना ही होगा। विकास की परिपक्व अवस्थामें, यह महत्वशाली बोध प्राप्त होता है कि **अहंकार**

के विवर्तनकालके चारों ओर चक्कर काटनेसे न तो जीवन समझा जा सकता है और न पूर्णतः रहा जा सकता है, और अपने अनुभवके तर्क से प्रेरित होकर ही मनुष्य अनुभव के यथार्थ केंद्र को खोजने के लिए और जीवनको सत्य में पुनर्व्यवस्थित करनेके लिए उत्साहित होता है। किंतु इसके लिए अहंभावको जर्जरीभूत करके उसकी जगह सत्य-चेतना को प्रतिष्ठित करना पडता है। अहंकार का उच्छेद सत्यानुभूति की शर्त है। जीवनकी सच्ची पूर्णता तथा एकता प्राप्त करने के लिए दृढीभूत संस्कारों की झूँठी नींव को उखाडना आवश्यक है।

अहंकार केंद्र का उच्छेद सही मूल्य-निरूपण के द्वारा संभव है।

अहंकार का स्वभाव तथा उसका अंत

भाग २

अहंकार पार्थक्य की स्वीकृति की घोषणा है।

अहंकार पार्थक्य की स्वीकृति की घोषणा है। वह अनेक रूप धारण करता है। वह अविच्छिन्न आत्म-चेतन स्मृति का रूप धारण करके इस प्रकारके स्मरणों के व्दारा व्यक्त हो सकता है जैसे "मैंने यह किया और मैंने वह किया, मैंने इसको अनुभव किया और मैंने उसको अनुभव किया, मैंने यह सोचा और मैंने वह सोचा"। वह ऐसी भविष्य-संबंधी अहंकार क्रेंदित आशाओंका रूपभी धारण कर सकता है जो भावी कार्यक्रमों के व्दारा अपने को व्यक्त करती हैं जैसे, "मैं यह करूंगा और वह करूंगा, मैं इसका अनुभव करूंगा, और मैं उसका अनुभव करूंगा, मैं यह सोचूंगा और मैं वह सोचूंगा"। और फिर वर्तमान कालमें अहंकार औरोंसे भिन्न **कोई विशिष्ट व्यक्ति होने** की प्रबल भावना का अनुभव करता है और चेतना के अन्य केंद्रोंसे अपनी विशिष्टता तथा पार्थक्य की घोषणा करता है। **यद्यपि**

अहंकार पार्थक्य की "मैं" स्वीकृति की घोषणा है।

अहंकार कुछ समयतक चेतनाकी उन्नति और वृद्धि के लिए उपयोगी होता है, तथापि पार्थक्य की स्वीकृति घोषणा के रूपमें आगे चलकर वह चेतना के आध्यात्मिक उद्धार स्वज्ञान-प्राप्ति के मार्गका सबसे बडा विघ्न बन जाता है।

तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय या ईर्ष्या के द्वारा अहंकार अपने पार्थक्य की घोषणा करता है। जब मनुष्य दूसरोंके संग की तृष्णा करता है तो पृथक् होने का उसे तीव्रता-पूर्वक बोध होता है और इस प्रकार वह अपनी पृथकताका तीव्रण अनुभव करता है। जब तृष्णा प्रबल और अटूट होती है तब दूसरेसे पार्थक्य की भावना भी प्रचंड होती है। घृणा और क्रोधमें भी मनुष्य मानो अपने खुदको अस्तित्व से बहिष्कृत कर देता है और वह न केवल पराया माना जाता है किंतु अहंकार के संवर्धनका शत्रु समझा जाता है। भय भी पार्थक्य की घोषणा का एक सूक्ष्म रूप है और द्वैत भावका शमन न होनेपर वह अस्तित्व में आता है। घृणा "मैं" और "तुम" के बीचमें एक घने आवरण का काम करती है। वह दूसरेके प्रति घोर अविश्वास की वृद्धि ही नहीं कर जाती किंतु उसका परिणाम भयकी वस्तुको अपने जीवन प्रसंगसे बहिष्कृत करने की गरजसे उसकी ओर से चेतना का संकोच तथा उपक्रमण के

बहिष्कार मूलक भावना अहंकार की खुराक है।

रूपमें प्रकट होता है । अतएव अन्य जीवोंसे ही नहीं किंतु ईश्वर से भी प्रेम करना चाहिए, भय नहीं । ईश्वर या उसकी अभिव्यक्तियोंसे भय करना द्वैत को मजबूत करना है; उन्हें प्रेम करना द्वैतको कमजोर करना है ।

पार्थक्य की भावना ईर्ष्या घृणा के रूपमें उग्रतापूर्वक व्यक्त होती है । दूसरे आत्माओंको प्रेम करना तथा उनसे आत्मीयता स्थापित करना मानवीय आत्मा की एक गंभीर एवं अनिवार्य आवश्यकता है । तृष्णा, घृणा, क्रोध तथा भयके कारण यह आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती है । ईर्ष्या में दूसरोंसे तादात्म्य अनुभव करनेकी इस गंभीर तथा अवारणीय आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती और साथ ही विश्वास हो जाता है कि किसी दूसरे व्यक्तिके साथ अपनी आत्मीयता जोड ली है जिस के साथ दरअसल वह स्वयं आत्मीयता जोडता है । अतः ऐसे संबंधका, जो मान खाम तौरसे केवल उसीके लिए सुरक्षित था, दूसरोंको उपयोग करते देखकर वह उन दोनों का घोर प्रतिवाद करता है ।

ईर्ष्या की जटिलताएं अहंकार को दृढ करती हैं।

तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय तथा ईर्ष्या जैसी समस्त बहिष्कार मूलक भावनाएं जीवनको संकुचित बनाती हैं तथा चेतना को संकीर्ण और सीमाबद्ध करती हैं । वे पाथक्य घोषणा के प्रत्यक्ष साधन हैं अतः परिणामतः अहंकार की पोषक हैं ।

बहिष्कार-मूलक पृथक अस्तित्व से प्रभावित प्रत्येक विचार, भावना या कार्य बांधते हैं। ऐसे छोटे या बडे-तमाम अनुभव तथा—अच्छे या बुरे सभी मनोरथ संस्कारों का एक बोझ पैदा करते हैं और "अहम" भाव का पोषण करते हैं। **अहंकार को क्षीण करने वाला एकमात्र अनुभव प्रेम है तथा पार्थक्य को नष्ट करने वाली एकमात्र आकांक्षा ईश्वर-मिलनकी आकांक्षा है।** तृष्णा, घृणा, क्रोध, भय तथा ईर्ष्या सभी बहिष्कार-मूलक रुख हैं जो अपने तथा शेष दूसरों के जीवन के बीच में एक खाई की सृष्टि करते हैं। **केवल प्रेम ही एक ऐसा समावेशकारक रुख है जो इस स्व-रचित तथा कृत्रिम खाई पर पुल बांधता है और जो मिथ्या कल्पना-कृत पार्थक्य-मूलक अंतराय को तोडता है।** प्रेम भी लालायित रहता है, किंतु वह प्रियतमसे मिलने के लिए लालायित रहता है, और प्रियतम मिलन की खोज या अनुभव में अहं-भाव दुर्बल होता है। प्रेम में, "मैं" आत्म-सुरक्षा का विचार नहीं करता, जैसे पतंग आग में जल जाने का भय नहीं करता। **अहंकार दूसरे से पृथक होने का द्योतक है, और प्रेम दूसरे से एक होनेका द्योतक है। अतः सच्चे प्रेमके ही द्वारा अहंकार का नाश हो सकता है।**

प्रेम अहंकार को क्षीण करता है।

विभिन्न प्रकारकी इच्छाएं अहंकार के उपकरण हैं। इच्छाओं की असफलता अहंकार की असफलता है और

इच्छाओं की सफलता अहंकार की सफलता है। **पूर्ण इच्छाओं तथा अपूर्ण इच्छाओं दोनों के द्वारा अहंकार की वृद्धि होती है।** इच्छाओंके ज्वार में कभी कभी जो तुलनात्मक शांति आ जाती है वह भी अहंकार का पोषण ही करती है और ऐसे प्रसगोंपर अहंकार अपने को इच्छा-शून्य समझने लगता है। तथा इस प्रकार वह अपनी पृथक सत्ता की घोषणा करता है। **किंतु यथार्थ में जब इच्छाओं का अंत हो जाता है तब किसी भी प्रकारकी पार्थक्यानुभूति की घोषणा की इच्छा का अंत हो जाता है।** अतएव समस्त इच्छाओंसे मुक्ति की प्राप्ति अहंकार के अस्तित्व की समाप्ति है। नाना-विध इच्छाओंसे अहंकार का निर्माण होता है और इच्छाओं का ध्वंस अहंकार का नाश है।

अहंकार का निर्माण इच्छाओं से होता है।

अहंकार के उच्छेद या चेतना के उद्धार की समस्या बड़ी जटिल समस्या है क्योंकि अहंकार की सारी जड़ें, सुप्त प्रवृत्तियों के रूपमें, उपचेतन मन के भीतर धँसी रहती हैं, और ये प्रसुप्त प्रवृत्तियां प्रकट चेतना की पहुंचके बाहर रहती हैं। प्रकट चेतना में व्यक्त होनेवाला सीमित अहंकार, अहंकार के यथार्थ स्वरूपका केवल एक छोटासा खंड है। अहंकार समुद्र में तैरती हुई विशाल हिम-राशि के समान है। हिमराशि का लगभग आठवां हिस्सा पानी की सतहके ऊपर रहता है और शेष दर्शकको दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार

अहंकार की जड़ उपचेतन मनमें रहती हैं।

असली अहंकार का एक छोटा अंश व्यक्त "मैं" के रूपमें प्रकट होता है किंतु उसका बडा भारी भाग उपचेतन मन के भीतर अव्यक्त तथा प्रच्छन्न रहता है।

चेतना में प्रत्ययीभूत परिस्फुट अहंकार सम नहीं होता। वह विरुद्ध प्रवृत्तियों के संघर्ष का रण-क्षेत्र बन सकता तथा बन जाता है। किंतु प्रवृत्तियों के कई द्वन्द्वों को एकसाथ प्रकट करने की योग्यता उसमें नहीं होती। वाकलह या खुले झगडे के लिए दो मनुष्योंमें कमसे कम बोलचाल का होना आवश्यक है, किंतु यदि उनमें बोलचाल ही बंद है तो फिर दोनों से संबंध रखनेवाले किसी समान विषय पर उनका झगडे में पडना ही नमुमकिन हो जाता है। ठीक इसी प्रकार दो विरुद्ध प्रवृत्तियों के बीच प्रकट युद्ध के लिये दोनोंसे संबंध रखने वाले एक समान विषय का होना आवश्यक है। किंतु यदि वे एक दूसरे से बिलकुल विषम हैं तथा उन दोनों में कुछभी साम्य नहीं है तो फिर **विरोधी प्रवृत्तियों** की हैसियतसे भी चेतना के रण-क्षेत्रमें उसका प्रविष्ट होना असंभव हो जाता है, और वे उपचेतन मन में तब तक विलुप्त पडे रहते हैं जबतक चेतन मन से संबद्ध विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रभावसे वे संशोधित नहीं हो जाते हैं।

अहंकार का विधान विषम होता है।

यद्यपि अहंकार का समूचा विधान सर्वथा विषम होता है, तथापि **उपचेतन मन के अस्फुट अहंकार की**

अपेक्षा चेतन मन का परिस्फुट अहंकार कम विषम होता है और चेतना में प्रकट होने का प्रयत्न करनेवाली विच्छिन्न उपचेतन प्रवृतियों के विरुद्ध वह एक भयंकर बाधक के रूपमें कार्य करता है। इस प्रकार परिस्फुट चेतना का व्यवस्थित अहंकार एक ऐसा निरोधी विघ्न है जो अस्फुट अहंकार के नाना अवयवोंके चेतनामें प्रविष्ट होनेमें रुकावट पैदा कर देता है। अहंकार की सभी समस्याएं बुद्धि संमत एवं चेतन कार्य के ही द्वारा सुलझाई जा सकती हैं। **अतः अहंकार का पूर्ण उन्मूलन सिर्फ तभी संभव है जब अहंकार के सभी अवयव बुद्धि की आगमें प्रवेश करें।**

परिस्फुट तथा अस्फुट अहंकार।

परिस्फुट अहंकार के अंग-प्रत्यंगों पर बुद्धि की क्रिया महत्वपूर्ण है। किंतु वह स्वयमेव पर्याप्त नहीं है। उपचेतन मन के अस्फुट अहंकार के अवयवों को भी येनकेनप्रकारेण चेतना की सतह पर लाया जाना तथा उनका परिस्फुट अहंकार का ही भाग बन जाना और उनपर बुद्धि की क्रिया का होना आवश्यक है। अस्फुट अहंकार को चेतन मनमें लानें के लिये परिस्फुट अहंकार को इस प्रकार निर्बल करना जरूरी है जिससे उपचेतन मन में निवास करनेवाली इच्छाओं और प्रवृत्तियोंको चेतना में प्रवेश पाने

अजेय समता की प्राप्ति के लिए संघर्ष का प्रवाह प्रचंड होना अनिवार्य है।

तथा प्रकट होने का अवसर प्राप्त हो। निषिद्ध या निरुद्ध प्रवृत्तियों के आगमन से परिस्फुट अहंकार की जटिलता तथा संघर्षमें वृद्धि हो जाती है। अतः अहंकारके नाश के पूर्व संघर्ष शांत नहीं हो जाते, प्रत्युत अत्यधिक प्रचंड हो जाते हैं। **तथापि, उग्र एवं प्रचंड संघर्ष के समाप्त होनेपर, अर्थात अहंकार की हिमराशि के पूर्णतः घुल जाने के पश्चात् यथार्थ समभारता या अजेय समता की अवस्था उपलब्ध होती है।**

अहंकार द्वन्द्व के सहारे जीता है।

उपचेतन मन के गहरे स्तरों के भीतर से अहंकार की गडी हुई जडों को खोद कर बाहर निकालना तथा उन्हें चेतना के प्रकाशमें बाहर लाना अहंकार को छिन्नमूल करनेकी विधिका एक महत्वपूर्ण भाग है। दूसरा महत्वपूर्ण भाग है इच्छाओंके चेतना के रण-क्षेत्र में प्रविष्ट होने के **पश्चात** उनका बुद्धि–सम्मत संपादन करना। परिस्फुट चेतना के अवयवों से निबटने का तरीका कोई सीधा और सरल तरीका नहीं है, क्योंकि अनुभव-द्वन्द्व के **किसी एक** पहलू पर आश्रित होने की अहंकार की प्रवृत्ति होती है और जब वह द्वन्द्व के एक पहलू से निकाल बाहर किया जाता है तो वह उसके दूसरे पहलू का आश्रय लेता है और उसी के सहारे जीता है। **इस प्रकार लगातार बारी बारी से द्वन्द्व के एक से फिर दूसरे**

पहलू का आश्रय लेकर अहंकार विवेक के आक्रमण से छल-पूर्वक बचता रहना है और अपनी सत्ताको स्थायी बनानेका उद्योग करता है।

अहंकार असंख्य फनवाले जल-सर्पके समान है और वह असंख्य प्रकार से प्रकट होता है। **किसी भी** प्रकार के अज्ञान के सहारे वह जीता है। आभिमान एक विशिष्ट भाव है जिसके व्दारा अहंकार व्यक्त होता है। मनुष्य अनेक महत्व-शून्य एवं तुच्छ वस्तुओं का अभिमान कर सकता है इस बातकी पुष्टि उन मनुष्यों के उदाहरणों से होती है जो अनेक असुविधाएं झेल कर भी अपने नखों को जरुरतसे ज्यादा बढ़ाते हैं। वे नाखून उनकी पार्थक्यानुभूति की घोषणा के उपकरण का काम करते हैं। अहंकार हास्यास्पद ढंगसे अपनी उपलब्धियों को बढाचढाकर जाहिर करता है। समाजमें आत्म-स्तुति के व्दारा अहंकार की प्रत्यक्ष तरीके से घोषणा तो एक बहुत मामुली बात है। किंतु जहां जहां ऐसी प्रत्यक्ष घोषणा शिष्टाचार के नियमों के विरुद्ध है वहां अहंकार स्वभावतः अप्रत्यक्ष रीति से, पर-निंदा के रूप में अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। पर-भर्त्सना आत्म-श्लाघा का एक अप्रत्यक्ष तरीका है। **दूसरों की बुराई** दिखलाना अपना बडप्पन प्रकट करना है। छिद्रान्वेषण दूसरों के साथ अपनी तुलना की एकता की

अहंकार असंख्य-फन-युक्त जल-सर्प के समान है।

सूचना है। कुछ कारणों से जब मनुष्य खुले तौर पर दूसरों से अपनी तुलना कर नहीं सकता है तब वह पर-निंदा में प्रवृत्त होता है।

अहंकार अपने को चिरस्थायी करनेके कार्य में सदैव तत्पर रहता है। किसी भी प्रकार के तथा प्रत्येक प्रकार के संभव साधनों के द्वारा जीवित रहना तथा बढना उसका स्वभाव है। यदि एक दिशा में उसका ऱ्हास किया जाता है तो वह उसकी कसर दूसरी दिशा में अपनी वृद्धि करके निकाल लेता है। यदि वह आध्यात्मिक विचारों और कार्यों के प्रवाह से ओत प्रोत होता है तब वह इसी शक्ति का आश्रय ग्रहण करके अपनी वृद्धि करता है। कहना न होगा कि इस शक्तिका उपयोग आरंभ में अहंकार के लिये किया जाता है किंतु परिणामतः अहंकार इसीके बल जीने लगता है। अहमन्यताके विशाल कार्यभारसे छुटकारा पाने के लिये यदि कोई मनुष्य अपने स्वभाव में नम्रता के गुणकी वृद्धि करता है तो अहंकार आश्चर्य जनक चिप्रताके साथ नम्रताके गुण कोही अपना आधाराश्रय बना लेता है। वह लगातार मैं आध्यात्मिक हूं—की घोषणाओं पर आसक्त हो जाता है। प्राथमिक अवस्था में वह अपनी इसी अहम्मन्यता का प्रदर्शन आध्यात्मिकता में मेरी रुचि नहीं

अहंकार की चालाकियां

है की घोषणाओं के द्वारा करता था। इसप्रकार **आध्यात्मिक अहंकार** की उत्पत्ति होती है। उच्च एवं आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति के द्वारा अपनी पृथक्ताका अनुभव करने से इस आध्यात्मिक अहंकार की उत्पत्ति होती है। किंतु सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि में इस प्रकारका आध्यात्मिक अहंकार यश लिप्साजन्य प्राथमिक तथा अपरिपक्व अहंकार के ही समान बंधनकारक है।

आध्यात्मिक पथकी अधिक उन्नत स्थितियोंमें, वस्तुतः, अहंकार **प्रकट तरीकों** के द्वारा आत्म-चिरस्थायीकरण की चेष्टा नहीं करता किंतु उन्हीं वस्तुओं का आश्रय ग्रहण करता है जो उसके विनाशके लिए अपनायी जाती हैं। अहंकार की ये चेष्टाएं युक्तिकौशल गुरिल्ला युद्ध के समान हैं और इनका प्रतिकार करना महा कठिण है। चेतना से अहंकार को खदेडने का कार्य बडा कठिण तथा विषम है। सदा किसी एक ही प्रकार की क्रिया के करने से अहंकार का नाश नहीं हो सकता। जैसा अहंकार का स्वभाव जटिल होता है वैसाही उसके नाश का तरीका भी जटिल होता है। चूंकि अपनी सत्ताको कायम रखने तथा आत्मप्रपंच पैदा करने की अहंकार के लिए असंख्य संभावनाएं हुआ करती हैं; अतः अहंकार के चित्र विचित्र नवीन रूपों की अनन्त वृद्धि का मुकाबिला करना जिज्ञासुके लिये असंभव हो जाता है; **और वह सदगुरु के अनुग्रह और**

गुरिल्ला युद्ध

सहाय्य के द्वारा ही स्वतः को अहंकार की भ्रमपूर्ण चालाकियोंसे सफलतापूर्वक निबाहनेकी आशा कर सकता है।

प्रायः यह देखा गया है कि जिज्ञासु के समस्त प्रयत्न जब निष्फल हो जाते हैं, तभी वह गुरु के पास जाता है। वह अपने प्रयत्नोंसे उस लक्ष्य की ओर प्रगति करने में असफल हो जाता है, अस्पष्टतः जिसे देखता है और जिसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है। अहंकार को अधिकाधिक विकट रूप धारण करके प्रकट होते देखकर वह क्षुब्ध और क्षुब्ध हो उठता है; **और अपनी इस असहायता का स्पष्ट दर्शन करके ही वह गुरु का आत्म-समर्पण करता है।** गुरु उसका एक अंतिम सहारा होता है। आत्म-समर्पण का अर्थ मानो यह स्वीकार करना है कि स्वयं अपने ही प्रयत्नों के द्वारा अहंकारकी समस्या के सुलझाने की सारी आशाएं जिज्ञासुने त्याग दी हैं और एक अंतिम सहारे के बतौर वह गुरु की शरण में आया है। जिज्ञासु मानो यह कहता है, इस अहंकार के अधम अस्तित्वका अंत करनेमें मैं असमर्थ हूँ, अतः आपसे विनय करता हूँ कि आप मध्यस्थ हों और इसका निबेड़ करें। अहंकार की छिन्नमूल करने के अन्य अनेक चेष्टाओं और उपायोंकी अपेक्षा गुरु की शरण ही अधिक लाभदायक है। जब गुरु की असीम कृपासे अहंकार रूपी अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है, तब सत्य की उषा का उदय होता है। सत्य ही सारी सृष्टि का तत्व है।

अहंकार का स्वभाव और उसका अंत

भाग ३रा

अहंकार के रूप और उनका लोप

अहंकार, सत्ता, यश, सामर्थ्य प्राप्तियों एवं उपलब्धियों जैसे सांसारिक अधिकारों द्वारा पोषित होता है। "मेरा" का विशिष्ट अनुभव करने के लिये वह "तेरा" को उत्पन्न और स्वीकार करता है। तथापि सभी किस्म के सांसारिक पदार्थों को "मेरा" कहकर अपनाने के बावजूद भी वह सदैव अपने को रिक्त और अपूर्ण अनुभव करता है और अपूर्णता की पूर्ति करने के लिए वह अधिकाधिक संचय के द्वारा अपनी विजेतादी करता है। वह अपने तमाम अधिकारों की सेनाएं एकट्ठी करके तुलना करता है उनसे जो उससे किसी बात में हीन होते हैं। इस प्रकार दूसरों को हानि पहुंचाकर भी वह अपने अधिकारों का उपयोग अनियंत्रित एवं अनावश्यक आत्म-प्रदर्शन करने के लिए करता है। इन भौतिक अधिकारों के प्रति अनासक्त होने के बजाय वह अपनापन का अधिक तीव्र अनुभव करके संतोष लाभ करता है और इस प्रकार तीव्र

अहंकार "मेरा" के विचारपर जीता है।

अनुभव करने के लिए वह दूसरों के अधिकारों के विरुद्ध अपने निजी अधिकारों की विशमता और विशेष्टता प्रकट करता है। **अहंकार पार्थक्यानुभूति की घोषणा है और वह "मेरा" के विचार पर जीता है।**

अहंकार के प्रकार

अहंकार अपने को औरोंसे पृथक् तथा अद्वितीय अनुभव करना चाहता है और वह या तो ऐसे व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है जो दूसरों की अपेक्षा निश्चितः श्रेष्ठ है या ऐसे व्यक्ति के रूप में जो औरोंसे निश्चितः हीन है। **जब तक अहंकार का अस्तित्व रहेगा तब तक द्वैतकी अप्रत्यक्ष पृष्ठभूमि भी विद्यमान रहेगी** और द्वैतकी पृष्ठभूमि जबतक कायम रहेगी तबतक दूसरोंसे सादृश्य निरूपण तथा वैशम्य-निर्धारण की मानसिक क्रियाओं की पूर्ण समाप्ति नहीं हो सकती। अतः वे विरले मनुष्य, जो दूसरों से अपनी समानता का अनुभव करते हैं, इस नियमके अपवाद नहीं हैं क्योंकि इनकी समानताकी भावना सुरक्षित एवं दृढ नहीं होती। यह भावना "मैं" तथा "तुम" की विशिष्टतासे सदैवके लिए छुटकारा पा जाना सूचित नहीं करती किंतु अहंकारके इन दो रुखोंके बीच के अवस्थांतर को प्रकट करती है।

समानता का भाव इस सूत्रके द्वारा व्यक्त किया जा सकता है "मैं" औरोंसे किसी प्रकार न तो श्रेष्ठ हूं और न

हीन हूं। **यह अहंकार की निषेधात्मक घोषणा है।** श्रेष्ठता की भावना के प्राबल्य या हीनता की भावना के बीच की तुल्यभारता निरंतर डाँवाडोल होती रहती है और इस खोई हुई समभारता को पुनः स्थापित करने के लिए समता के भाव का उदय होता है। **समानता के रूप में होनेवाली अहंकारकी निषेधात्मक घोषणा एकता के भाव से सर्वथा भिन्न है।** एकता का भाव आध्यात्मिक स्वातंत्र्य के जीवनका लक्षण है। यद्यपि समानता के भाव को अनेक सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्शों का आधार बनाया जाता है **तथापि सच्चे सहयोग और यथार्थ सहकारिता के जीवनकी शर्त तभी पूरी होती हैं जब कोरी समानता के भाव की जगह समस्त जीवन की एकता की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है।**

समानता का भाव

श्रेष्ठता की भावना तथा हीनता की भावना मानों एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रियाएं हैं। और समानता की कृत्रिम भावना मानों दोनों के प्रति प्रतिक्रिया है। और इन तीनों पद्धतियोंका आश्रय लेकर अहंकार औरोंसे अपनी पार्थक्यानुभूति की घोषणा करने में सफल होता है। **श्रेष्ठता की भावना** (Superiority Complex) **तथा हीनता की भावना** (Inferiority Complex) **अधिकांश में एक दूसरोंसे असंलग्न रहती हैं और उपर्युक्त प्रसंगोंके द्वारा बारी-**

बारी से तथा अलग-अलग अपनेको अभिव्यक्त करती हैं। जैसे, मनुष्य जिन्हें अपने से हीन समझता है उनपर आतंक रोब गांठता है तथा जिन्हें अपने से श्रेष्ठ समझता है उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। किंतु इन विरोधी भावनाओंके बर्ताव वैषम्य के द्वारा बारी बारीसे अभिव्यक्त होनेसे उनका ह्रास या लोप नहीं होता, प्रत्युत उनकी वृद्धि होती जाती है।

दो भावनाएं

जब मनुष्य किसी ऐसे मनुष्य से मिलता है जो सांसारिक अधिकारों में उससे विशेषतया हीन होता है तब उसकी श्रेष्ठताकी भावना उत्तेजित होती है। अनेक वस्तुओंका अधिकृत करनेके बावजूदभी अहंकारको अपने भीतरी खोखलेपन का सदैव अनुभव हुवा करता है। अतएव दूसरों के अधिकारों की अपेक्षा अपने अधिकारों की श्रेष्ठता का अपने समक्ष तथा औरों के समक्ष प्रदर्शन करके वह अपनी संपन्नता के सुखद भ्रम पर आसक्त हो जाता है। यह वैषम्य-निर्धारण केवल मानसिक तुलना तक ही सीमित नहीं रहता किंतु बहुधा उपयुक्त प्रसंगोंके बहाने प्रकट संघर्ष के रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार आक्रमणशीलता अहंकारिक जीवन की दैन्य-पूर्ति की आवश्यकता का स्वाभाविक परिणाम है।

श्रेष्ठता की भावना

जब मनुष्य किसी ऐसे मनुष्यसे मिलता है जो भौतिक अधिकारों में उससे विशेषतः श्रेष्ठ होता है तब उसकी हीनता

की भावना उत्तेजित होती है और वह उसकी वश्यता स्वीकार कर लेता है। किंतु उसकी यह वश्यता या तो भय से उत्पन्न होती है या स्वार्थरतासे। वह स्वाभाविक या स्वेच्छामूलक हरगिज नहीं होती, क्योंकि दूसरे के प्रति उसके मनमें प्रच्छन्न ईर्ष्या ही क्या, घृणा भी विद्यमान रहती है, इसीलिये कि उसके अधिकार में वे वस्तुएं हैं जो दरअसल स्वयं इसके अधिकारमें रहना चाहिए थीं। दबावसे उत्पन्न होनेवाली बाहरी वश्यता हीनता की भावना का केवल परिणाम है। अहंकार को रिक्तता का जो अनुभव होता है उसका कारण उसके उन अधिकारों के द्वारा पूर्ति खोजनेकी उसकी नितान्त दुष्टता ही है। अतः अपनी अधिकार-हीनता की मिथ्या भावना के कारण वह अपने अधिकारों की जी-जान से अधिकाधिक वृद्धि करने के लिये प्रेरित होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह तमाम संभव साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार श्रेष्ठता तथा हीनता की दोनों प्रकार की भावनाएं स्वार्थपरता तथा सामाजिक उच्छृंखलता को बढ़ाने में सहायक होती हैं। इन दोनों के द्वारा जिस अनुपात में आत्मा की दरिद्रता बढ़ती है उसी अनुपात में अहंकार-मूलक अज्ञान बढ़ता है।

हीनता की भावना

जब मनुष्य गुरु के संपर्क में आता है और उसकी अहंकारशून्य पूर्णता स्वीकार करता है तब वह स्वेच्छासे

उसकी शरणमें आ जाता है और उसके हाथोंमें अपना आत्म-समर्पण कर देता है क्योंकि वह अहंकार को चिरस्थायी अज्ञान, अशांति और संघर्ष का मूल कारण समझता है और उसका अंत करने में अपनी असमर्थता भी महसूस करता है। यह शरण-ग्रहण यह जानकर किया जाता है कि गुरु उसका आदर्श है अतः गुरु की शिष्य के साथ मौलिक आत्मीयता है। इस प्रकार का आत्मसमर्पण किसी भी प्रकार से आत्म-विश्वास खो देनेका सूचक नहीं है, प्रत्युत वह गुरु की सहायतासे समस्त विघ्नोंपर अंतिम विजय प्राप्त करने के विश्वास का द्योतक है। **गुरु की दिव्यता को स्वीकार करके तथा उसका अनुभव करके शिष्यकी अंतरात्मा अपने गौरव को प्रकट करती है।**

गुरु का शरण-ग्रहण करना हीनता भावना से सर्वथा भिन्न है।

अहंकार के उपर्युक्त दो प्रधान रूपों को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट करने के इरादे से गुरु जानबूझकर इन दोनों भावनाओं को बारी बारीसे उत्तेजित करता है। यदि शिष्य हिम्मत हारकर अपनी खोज त्याग देने की सीमा तक पहुंच जाता है तब गुरु उसमें प्रबल आत्म-विश्वास जाग्रत करता है। तब वह इस नयी रुकावट को ऐसी परिस्थितियां पैदा करके नष्ट-भ्रष्ट करता है, जिसमें शिष्य अपनी अयोग्यता या व्यर्थता को पहचानने तथा मानने को मजबूर हो। इस प्रकार गुरु **अपने प्रभावसे शिष्य को**

गुरु की मध्यस्तता

इस तरीके से प्रभावित करता है जिससे अहंकार के नष्ट होने की विधि शीघ्रगति से संपन्न हो जाय और अहंकार अंतमें पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाय।

श्रेष्ठता की भावना तथा हीनता की भावना को चतुराई के साथ एक दूसरे से संबद्ध करना चाहिए ताकि वे एक दूसरे का प्रतिकार कर सकें। इसके लिए ऐसी आंतरिक व्यवस्था आवश्यक है जिससे दोनों भावनाएं एकही समय तथा एकही साथ इस प्रकार अपने को अभिव्यक्त कर सकें कि एक की अभिव्यक्ति के लिए दूसरे का दमन न करना पड़े। जब गुरु के साथ वैद्युतिक एवं सजीव संबंध स्थापित होता है तब श्रेष्ठता तथा हीनता की भावनाएं एक साथ ही अभिव्यक्त होती हैं और वे इतनी कुशलता के साथ एक दूसरे से संबद्ध की जाती हैं कि वे एक दूसरे का प्रतिकार करती हैं। शिष्य सोचता है कि वह स्वयं तो **कुछ भी नहीं है** किंतु गुरु में तथा गुरु के द्वारा वह **सब कुछ है। इस प्रकार एकही आघात से दोनों भावनाओं में खींचतान पैदा हो जाती है और वे दोनों एक दूसरे को नष्ट करती हैं।** गुरु के प्रति अपने आपको व्यवस्थित करने के प्रयत्न से शिष्य इन दोनों वैषम्य मूलक भावनाओं को छिन्नमूल करने में समर्थ होता है। इन दोनों प्रतिकूल भावनाओं के नष्ट होने के साथ ही

गुरु के प्रति अपने को व्यवस्थित करने से श्रेष्ठता तथा हीनता की भावनाएं पारस्परिक खींचतान से नष्ट हो जाती हैं।

साथ अहंकार के प्रायः समस्त अंतराय नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। पार्थक्य के अंतरायों के नष्ट–भ्रष्ट होते ही दिव्य प्रेम का आविर्भाव होता है और दिव्य प्रेम के आविर्भूत होते ही "तुमसे" विशिष्ट "मैं" की भेदमूलक भावना "तुम" एवं "मैं" दोनों के ऐक्य की भावना में विलीन हो जाती है।

गंतव्य स्थान की ओर मोटर के चलते रहने के लिए ड्राइव्हर आवश्यक है। किंतु ड्राइव्हर चंचल मतिका हो सकता है। वह राह की चित्ताकर्षक वस्तुओं पर इतना आसक्त हो सकता है कि न केवल बीच के स्थानों में अनिश्चित काल के लिये रुकता जाता है किंतु अस्थायी सौंदर्य वाले पदार्थों की खोज तलाश में बाजू के रास्ते में ही भटकता रह सकता है। इस अवस्था में भी उसकी मोटर तो चलती रहती है किंतु लक्ष्य स्थान के समीप आना तो दूर होता जाता है। जब अहंकार मानवीय चेतना का सफल और पथप्रदर्शन का कार्य करता है तब करीब करीब ऐसा ही हुआ करता है। अहंकार उस ड्राइव्हर के समान है जिसकी मोटर पर कुछ न कुछ योग्यता रहती है किंतु जिसे मोटर के अंतिम लक्ष्य-स्थान का जरा भी ज्ञान नहीं रहता।

ड्राइव्हर का सादृश्य

मोटर के गंतव्य स्थान में पहुंचने के लिए एंजिनको व्यवस्थित रखने और संचालित कर सकने वाले ड्राइव्हर का होना ही पर्याप्त नहीं है। ड्राइव्हर में मोटर को लक्ष्यस्थानकी ओर चलाने की योग्यता का होना भी निहायत जरूरी है। जबतक

चेतना का एकमात्र संचालक अहंकार रहता है तबतक मनुष्यकी आध्यात्मिक यात्रा खतरे से पूर्ण रहती है क्यों कि अहंकार स्वभावतः कल्पनाकृत मिथ्या पार्थक्य भावका दृढ करता है। अतः अहंकार केंद्रित क्रियाओंके बावजूद भी, चेतना अपने स्वनिर्मित यांत्रिक कारागार में कैद हो जाती है। बन्धनोंसे मुक्त करने में उसके समर्थ होनेके लिए जिसके लिए वस्तुतः वह (चेतना) अस्तित्व में आई है, यह नितान्त आवश्यक है **कि वह अपना संचालक वेग अहंकार से प्राप्त न करे किंतु किसी दूसरे सिद्धान्तसे प्राप्त करे।** कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्यसे अनभिज्ञ चंचल मति ड्राइव्हर की जगह कुशल और ज्ञानवान ड्राइव्ह की नियुक्ति हो, जिसे अंतिम लक्ष्य का पूरापूरा ज्ञान है, जो राह के अस्थायी सौंदर्यके प्रति आकर्षित नहीं होता और जो स्टेशनों और पार्श्व-वर्ती प्रलोभनोंपर मुग्ध होकर रुक नहीं जाता, किंतु जो अद्वैतके अपने अंतिम लक्ष्यपर अपनी दृष्टि रखता है और जो वहां पहुंचे बिना कहीं नहीं ठहरता। **मनका महत्वशून्य पदार्थों की ओर से हटकर महत्पूर्ण पदार्थों पर अनन्यभावसे केंद्रित होना मानो अज्ञानी ड्राइव्हर की जगह में ज्ञानी ड्राइव्हर की नियुक्ति है और जिसअनुपात में** मन निस्सार वस्तुओंसे हटता है उसी अनुपातसे क्रमशः अहंकारका नाश होता जाता है और सत्य अधिकाधिक समीप आता जाता है।

यदि अहंकार मानवीय अनुभव की पूर्णता का मात्र साधन हुआ होता और इसके अतिरिक्त वह और कुछभी न होता, तो अहंकार की क्रिया को बेबल अग्रसर करनेसे ही मनुष्य अंतिम सत्यपर आरूढ होता। किंतु चेतना के विकासमें विशिष्ट भाग लेने के साथही साथ अहंकार अज्ञान के एक ऐसे सक्रिय सिधान्त का प्रतिनिधित्व करता है जो आगे चलकर अध्यात्मिक उन्नति को अवरुद्ध कर देता है। **अहंकार अनुभव की पूर्णता के लिए प्रयत्न करता है किंतु वह पार्थक्य के मिथ्या विचारसे पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। क्यूंकि उसके भवन की नींव ही भ्रम होती है, अतः भ्रम के ऊपर भ्रम की रचना करके वह एक भ्रम की इमारत तैयार करनेमें सफल होता है।** अहंकार की क्रिया से सत्य की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती किंतु यथार्थ में सत्य की प्राप्ति असंभव हो जाती है। सत्य की ओर तभी पहुंचा जा सकता है जब अहंकार की अभ्यक्षतामें पूर्णता की खोज न की जाय। **पार्थक्य-मूलक अज्ञानको त्यागकर पूर्णता प्राप्त करनेकी क्रिया से ही सत्य की प्राप्ति संभव है।**

अहंकार मिथ्या विचार से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है।

जबतक मानव-जीवन द्वैतकी सीमा के अंतर्गत है तब तक अनुभवपूर्णता की खोज करता रहेगा। यह अनिवार्य है

और यह बौद्धिक जीवन का लक्षण है। किंतु अहंकार अज्ञान है अतः उसे पूर्णता का केंद्र मानना गलत है। उसे त्यागनेपर ही सच्ची पूर्णता की प्राप्ति संभव है। अहंकार का केंद्र तभी त्यागा जा सकता है जब कोई **नया** केंद्र प्राप्त हो। यह नया केंद्र ऐसा होना चाहिये जो पार्थक्य के अज्ञान से रहित हो और जिसके आश्रय से जीवन के समस्त मूल्यों की उपलब्धि हो सके। कहना न होगा कि अहंकार केंद्र के रिक्तस्थान की पूर्ति गुरु एक नवीन केंद्र के रूप में करता है। गुरु अनन्त सत्य का प्रतिनिधि होता है और वह जीवन के तमाम वास्तविक मूल्यों को व्यक्त करता है। **गुरुनिष्ठा तथा गुरु-शरणागति के द्वारा मन महत्वशून्य पदार्थों से हटकर महत्वपूर्ण पदार्थोंपर केंद्रित होता है। इस प्रकार, गुरु पूर्णता का नवीन केंद्र बन जाता है।**

गुरु पूर्णता का नवीन केंद्र बन जाता है।

यदि ठीक से समझा जाय तो गुरु समस्त जीवनकी एकता की एक प्रकट घोषणा है। अतः गुरु-निष्ठा के द्वारा क्रमशः पार्थक्य-मूलक अहंकार केंद्र से संबंध विच्छेद होता जाता है। गुरु के हाथोंमें आत्मसमर्पण कर देने की महान घटना के पश्चात् सीमित अहंकार केंद्र नष्ट होता जाता है और गुरु का अहंकार शून्य अनन्त व्यक्तित्व शिष्यकी समस्त मानसिक क्रियाओंका केंद्र

बन जाता है। शिष्य क्रमशः सीमित "मैं" को त्यागता जाता है और उस असीम "मैं" को अपनाता जाता है जिसका प्रतिनिधित्व उसका गुरु करता है। आत्मसमर्पण करने के पश्चात् शिष्य यह अनुभव करता है कि वह स्वयं कुछ भी विचार नहीं कर रहा है। किंतु उसके विचारों और कार्यों के द्वारा वह सत्य हो रहा है जिसका प्रतिनिधि उसका गुरु है। वह अपने स्वार्थ की या अपने निजी कल्याण की जरा भी परवाह नहीं करता। वह अविभाज्य एवं सर्वलौकिक जीवनकी जीवित प्रतिमा, गुरु की ही नित्य कल्याण कामना करता है। वह अपने अच्छे और बुरे अनुभवों तथा अच्छी बुरी इच्छाओं को गुरु को समर्पित कर देता है। वह अपना सर्वस्व गुरु को सौंप देता है। इससे उसका अहंकार क्षीण हो जाता है। उसके अहंकारके इस प्रकार क्षीण होने से पूर्णता प्राप्त करने की उसकी क्रिया में कोई रुकावट नहीं आती। उसका नवीन केंद्र गुरु बन जाता है। गुरु अनन्त सत्य का प्रतिनिधि होता है। अतः अहंकार केंद्र को त्याग कर तथा इस नवीन केंद्र का आश्रय लेकर पूर्णता प्राप्त करने की क्रिया का जारी रहना अनन्त सत्य की क्रमशः प्राप्ति करना है। **जब अहंकार पूर्णतः निर्जीव तथा बिलकुल निष्प्राण हो जाता है तब गुरु का अनन्त सत्ययुक्त अस्तित्व शिष्य का व्यक्तित्व बन जाता है। कहने का आशय यह कि गुरु और शिष्य के व्यक्तित्व में कोई अंतर नहीं रह**

जाता। यह गुरु से युक्त होना तथा अनन्त सत्य का साक्षात्कार करना है।

नम्रता, निस्वार्थता, प्रेम, पूर्ण आत्मसमर्पण आदि गुणों की वृद्धि से अहंकार का ह्रास होता है। ज्यों ज्यों उक्त आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि हो आध्यात्मिक जीवन की वृद्धि होती है त्यों त्यों अहंकार दुर्बल होता जाता है तथा उसमें आध्यात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति का अवरोध करने की शक्ति नहीं रह जाती।

विकास क्रम का पुनरावलोकन

साथ ही साथ इन गुणों की वृद्धि से अहंकार का आमूल रूपांतर भी होता जाता है। यह परिवर्तन अंततोगत्वा इतना महान होता है कि पार्थक्य-मूलक अहंकार पूर्णतः तिरोहित हो जाता है और उसकी जगह में एकता-मूलक सत्य की स्थापना हो जाती है। अहंकार की आरंभिक कतरब्योंत एक विशाल वन्य वृक्ष की शाखाओं को काटने और छांटने के समान है तथा अहंकार का अंतिम उच्छेद इस वृक्ष को जड़ समेत उखाड़नेके समान है। जब अहं वृत्ति का पूर्ण लोप हो जाता है तब सदात्मज्ञानका आविर्भाव होता है। **पाशविक चेतना क्रम क्रम से विकसित होती जाती है और सीमित "मैं" के रूप में प्रगट होती है। फिर गुरु की सहायता से चेतना को इस सीमित "मैं" को भी त्यागना पडता है। सीमित "अहं" का त्याग करने से चेतना "अहं ब्रम्हास्मि" या "शिवोहम्"**

का ज्ञान प्राप्त करती है। "अहं ब्रम्हास्मि" या "शिवोहम्" की इस चेतनामें पार्थक्य नहीं रहता। इस ज्ञानमें सब कुछ समाविष्ट रहता है।

———

नवीन मानवता

आज कल मानवता आध्यात्मिक पुनर्जन्म की दारुण प्रसव वेदना का अनुभव कर रही है। मानवीय इतिहास के संकट काल में ऐसी घटना कई बार हो चुकी है। संहार की भयानक शक्तियां विकट रूप धारण करके अपना कार्य करने में लगी हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन संहारक शक्तियों का संसार पर प्रभुत्व होनेवाला है। किंतु अनेक दिशाओं से रचनात्मक एवं विधायक शक्तियां भी प्रवाहित हो रही हैं और अपना कार्य कर रही हैं। ये रचनात्मक शक्तियां ही मानवता का उद्धार करेंगी। अभी तो अंधःकार ही अंधःकार दिखाई देता है। किंतु प्रकाश की शक्तियां गुप्त रूप से अपना कार्य कर रही हैं। गुप्त रूप से कार्य करनेवाली प्रकाश की शक्तियां ही अंत में विजय लाभ करेंगी। और इस प्रकार मानवता का त्राण होगा। कई संकटापन्न परिस्थितियों से गुजर कर मानवता यात्रा कर रही है। वर्तमान संघर्ष को पार करके मानव जाति अपनी आध्यात्मिक यात्रा के विश्राम-स्थान को पहुंचेगी। यह दिव्य योजना या ईश्वरीय लीला का

ही एक अंग है। श्रांत एवं क्षुधार्त संसार को अनन्त तथा अद्वितीय सत्य का युग युग में तथा समय समय पर नवीन ज्ञान प्रदान करना ही दिव्य योजना है।

युद्ध आंतरिक कारणों का एक बाह्य परिणाम है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सभी प्रकार की प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता तथा पारस्परिक संघर्ष को दूर करने के उपाय तथा साधन ढूँढ निकालना मानवता के समक्ष आजकल एक बड़ी भारी समस्या है। सशस्त्र युद्ध उपद्रव तथा संहार का अत्यंत बाह्य दृश्य है। तथापि **स्वयं युद्ध कोई वास्तविक समस्या नहीं है। युद्ध आंतरिक रोग का बाहरी लक्षण है। युद्ध आंतरिक तथा अस्पष्ट कारणों का बाह्य तथा स्पष्ट परिणाम है।** युद्ध के खिलाफ केवल प्रचार करने से ही युद्ध बंद नहीं हो जायगा और न तज्जन्य पीड़ा दूर हो जायगी। युद्ध तथा तज्जन्य यंत्रणा को दूर करने के लिए युद्ध के मूल कारण का अंत करना आवश्यक है। सशस्त्र युद्ध के न छिड़ने पर भी व्यक्तियों के तथा राष्ट्रों के बीच आर्थिक संघर्ष तथा अन्य सूक्ष्म संग्राम निरंतर होता रहता है। जब युद्ध के आंतरिक कारण विकट रूप धारण कर लेते हैं, अर्थात् जब कलह और विग्रह के गुप्त कारण अत्यंत उग्र हो जाते हैं, तभी निर्दयतापूर्ण सशस्त्र युद्ध छिड़ जाता है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक अहंकार तथा स्वार्थपरता ही युद्ध के मूल कारण हैं। अनेक मनुष्य अहंकार तथा स्वार्थपरता के शिकार हो जाते हैं। उनकी **अहंवृत्ति तथा स्वार्थपरता** के परिणामस्वरूप अस्तव्यस्तता तथा युद्ध का जन्म होता है। अहंकार और स्वार्थ व्यक्तिगत भी होते हैं और राष्ट्रगत भी—यह ऊपर बतलाया जा चुका है। **मनुष्य अहंकार और स्वार्थ के द्वारा जीवन का सार ढूंढना चाहते हैं, और इस प्रकार वे भ्रांत धारणा के शिकार हो जाते हैं।** सत्य का सामना करने का यह मतलब यह है कि यह स्वीकार किया जाय कि समस्त जीवन एक है; तथा नाना नाम, विभिन्न रूप तथा अनेक गुण एकता के सूत्र में गुँथे हुए हैं। इस एकता को स्वीकार करना, तथा इस एकता की अनुभूति करने का अर्थ है अपने सीमित स्वार्थ को बिलकुल भूल जाना।

वर्तमान अस्तव्यस्तता का मूल कारण है अहंकार तथा स्वार्थ।

मानव-जीवन की अंतर्भूत एकता का सच्चा ज्ञान होते ही युद्ध की समस्या तुरंत दूर हो जाती है। **युद्ध इतना व्यर्थ और अनावश्यक है कि यथार्थ समस्या युद्ध को बंद करना नहीं है। यथार्थ समस्या, उन कारणों के खिलाफ़ युद्ध छेड़ना तथा जारी करना है, जिनके फलस्वरूप निर्दयतापूर्ण तथा पीड़ादायक**

युद्ध व्यर्थ और अनावश्यक है।

युद्ध होते हैं। सभी प्राणियों के एकता का ज्ञान होने पर, तथा इस एकता की अनुभूति करने से सहयोग युक्त, प्रेमपूर्ण, शांत एवं सम जीवन अनिवार्य और स्वाभाविक हो जाता है। अतएव मानवता के पुनर्निर्माण का चिंतन करनेवाले लोगों के समक्ष मुख्य कार्य यह है कि वे मनुष्यों के आध्यात्मिक अज्ञान को दूर करें।

केवल आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए ही युद्ध नहीं छिडता। संकीर्ण स्वार्थ तथा 'मेरा' के प्रति अज्ञानपूर्ण ममता की वजह युद्ध की उत्पत्ति होती है। **आर्थिक व्यवस्था की स्थापना आध्यात्मिक व्यवस्था की स्थापना का एक अंग है। केवल आर्थिक क्षेत्र से स्वार्थपरता के दूर होजाने से ही सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो जायगी। यथार्थ व्यवस्था अर्थात् आध्यात्मिक व्यवस्था की स्थापना तभी होगी जब आर्थिक क्षेत्र, बौद्धिक क्षेत्र, भावना संबंधी क्षेत्र एवं सांस्कृतिक क्षेत्र, या यों कहें कि मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के स्वार्थ-परता का अंत हो जायगा।**

जीवन के सभी क्षेत्रों से स्वार्थपरता को हटाना होगा।

मनुष्य की समस्या को केवल रोटी की समस्या समझना मनुष्य को पशु समझना है। किंतु आर्थिक व्यवस्था की स्थापना भी आध्यात्मिक ज्ञान के बिना संभव नहीं है। संग्रह-

प्रधान स्वार्थ-परायणता की जगह त्याग-प्रधान मानव-प्रेम के बिना सहयोगपूर्ण संयत् आर्थिक जीवन संभव नहीं है। यह बात जब तक मानव जाति महसूस नहीं करेगी, तब तक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना नहीं होगी। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भौतिक सामग्रियों, वैज्ञानिक आविष्कारों, उत्पत्ति के उत्तम से उत्तम साधनों के बावजूद भी पारस्परिक संघर्ष संभव है, लोगों में दरिद्रता तथा आपत्तियता का होना संभव है। पारस्परिक संघर्ष तथा दारिद्र्य तभी मिटाये जा सकते हैं जब मनुष्य स्वार्थ को त्याग कर प्रेम को अपनायें।

पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए भी आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है।

युद्धों और संघर्षों की प्रसव-यंत्रणा के पश्चात् जिस मानवता का जन्म होगा, वह विज्ञान तथा विज्ञान के उपयोगी आविष्कारों की उपेक्षा नहीं करेगी। विज्ञान को आध्यात्मिक जीवन का शत्रु मानना भूल है। **विज्ञान के सदुपयोग या दुरुपयोग पर उसका आध्यात्मिक जीवन में सहायक या बाधक होना अवलंबित है।** जिस प्रकार सदुपयोग करने पर कला, आध्यात्मिक जीवन के लिए सहायक हो जाती है; उसी प्रकार विज्ञान का सदुपयोग करने पर विज्ञान भी, आध्यात्मिक जीवन में सहायता पहुँचा सकता है। भौतिक शरीर-संबंधी तथा स्थूल-जगत-संबंधी वैज्ञानिक सत्य आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। वैज्ञानिक

विज्ञान का उचित स्थान।

आविष्कारों तथा स्थूल-विश्व-संबंधी अनुसंधानों को साध्य नहीं मान बैठना चाहिए। विज्ञान को आध्यात्मिक जीवन का केवल साधन मानना चाहिए। वैज्ञानिक तथा भौतिक सत्यों का क्रमशः अनुभव करते करते अंत में आत्मा का अनुभव करना ही आध्यात्मिक विधान है। आध्यात्मिक अनुभव को भूल कर अथवा आत्मा की उपेक्षा कर, भौतिक अनुभव में तल्लीन हो जाना घातक है। आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा भौतिक साधनों का उपयोग इंद्रिय सुख तथा पारस्परिक संघर्ष के लिए किया जा सकता है। मानवता की सर्वांगीण उन्नति तभी हो सकती है, जब विज्ञान और धर्म साथ साथ चलें। न तो धर्म को विज्ञान की उपेक्षा करनी चाहिए और न विज्ञान को धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए।

आध्यात्मिक अनुभव की आवश्यकता।

नवीन मानवता की भावी सभ्यता सूखे बौद्धिक सिद्धान्तों की सभ्यता नहीं होगी। बौद्धिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन सभ्यता का लक्षण नहीं है। सच्चा आध्यात्मिक अनुभव ही सभ्यता की पहचान है। आध्यात्मिक सत्य बुद्धि-गम्य नहीं हैं। केवल बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक अनुभव की उपलब्धि नहीं हो सकती। बुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक सत्य का कथन तथा वर्णन हो सकता है। तथा आध्यात्मिक सत्य को समझने में बुद्धि कुछ

अंशों में सहायक हो सकती है। किंतु अकेली बुद्धि की सहायता से न तो आध्यात्मिक अनुभव ही प्राप्त किया जा सकता और न बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक अनुभव दूसरों को प्रदान किया जा सकता है। जब दो मनुष्यों को सिर की पीडा का अनुभव हो जायगा तभी वे बुद्धि की सहायता से सिर की पीडा को स्वयं समझ सकेंगे, तथा एक दूसरे को समझा सकेंगे किंतु जिस मनुष्य को सिर की पीडा का कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, उसके सामने आप सिर-पीडा का लाख बौद्धिक वर्णन कीजिए, सिर-पीडा आखिर क्या बला है, यह खाक उसकी समझ में न आयगा। सिर-पीडा यथार्थ में कैसी होती है यह जानने के लिए मनुष्य को सिर-पीडा का अनुभव करना जरूरी है। सिर-पीडा का उसे ज्ञान करने के लिए उसके सिर को चोट पहुँचाना आवश्यक है। मार पडने पर उसे सिर-पीडा का अनुभव हो जायगा, और वह समझ जायगा कि सिर-पीडा कैसी होती है। इसी प्रकार बौद्धिक वर्णन या बौद्धिक स्पष्टीकरण से आध्यात्मिक सत्य नहीं समझा जा सकता। आध्यात्मिक सत्य का अनुभव करने से ही वह सत्य समझा जा सकता है। हाँ, बौद्धिक ज्ञान को आध्यात्मिक अनुभव की भूमिका कह सकते हैं।

बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा गंभीरतर अनुभूति का नाम आध्यात्मिक अनुभव है। बहुधा आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण

अनुभव के नाम से संबोधित किया जाता है। रहस्यवाद को बहुधा बुद्धिविरोधी, जटिल, गूढ़, अव्यवहार्य तथा जीवन से असंबद्ध समझा जाता है। किंतु यथार्थ में सच्चा रहस्यवाद ऐसा नहीं है। **सच्चे रहस्यवाद में अबौद्धिक कुछ भी नहीं है। सत्य वास्तव में जैसा है उसका वैसा ही ज्ञान सच्चा रहस्यवाद है। सच्चा रहस्यवाद इतना व्यावहारिक है कि जीवन के प्रत्येक क्षण उसका अनुभव किया जा सकता है; प्रतिदिन के कार्यों और कर्तव्यों में वह प्रकट किया जा सकता है। और अनुभव से उसका संबंध इतना गहरा है कि एक प्रकार से वह समस्त अनुभवों का अंतिम ज्ञान है।** आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण अनुभव कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं समझ बैठना चाहिए कि आध्यात्मिक अनुभव प्रकृति-विरुद्ध है तथा वह मानवीय चेतना की पहुँच के परे है। आध्यात्मिक अनुभव को रहस्यपूर्ण इसी लिए कहा जाता है कि वह मनुष्य की सीमित बुद्धि के द्वारा प्राप्य नहीं है। जब बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण किया जाता है तब अनन्तत्व का ज्ञान हो जाता है, तभी आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता है। जब ईसा ने कहा—"सब कुछ त्याग कर मेरा अनुकरण करो," तब उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने का मार्ग लोगों को दिखलाया। ईसा के इस कथन का अर्थ यह है कि अपनी समस्त सीमाओं को त्याग कर ईश्वर की अनन्तता में आरूढ

आध्यात्मिक अनुभव का स्वभाव तथा स्थान।

हो जाओ। सच्चे आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ न केवल उच्चतर भूमिकाओं में आत्मानुभूति की प्राप्ति करना है, किंतु दैनिक जीवन तथा सांसारिक कर्तव्यों को ठीक ढंग से करने का ज्ञान प्राप्त करना है। जिस आध्यात्मिकता का जीवन के दैनिक कार्यों तथा विभिन्न प्रकार के अनुभवों से कोई संबंध नहीं है, वह सच्ची आध्यात्मिकता नहीं है, किंतु एक प्रतिक्रियात्मक पागलपन है।

नवीन मानवता का भावी जीवन जिस आध्यात्मिक अनुभव से प्राण, प्रोत्साहन तथा स्फूर्ति प्राप्त करेगा वह जीवन की वास्तविकता से मुँह नहीं मोड लेगा। जो मानव जीवन के प्रवाह में अपने को व्यवस्थित करने की क्षमता नहीं रखते वे जीवन के वास्तविकता से पीठ फेर लेते हैं। जीवन से दूर भाग कर भ्रमों के स्वनिर्मित किले के भीतर वे आश्रय लेते हैं और अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। यह प्रतिक्रिया है। यह जीवन की माँगों से मुँह मोडकर तथा जीवन की आवश्यकताओं से जान बचा कर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने का प्रयत्न है। जीवन से पीठ फेर कर भागना जीवन की समस्याओं का मिथ्या सुलझाव है। जीवन से भाग कर जो आत्मपूर्णता तथा सुरक्षा हासिल की जाती है वह झूँठी है। यह समस्या का यथार्थ तथा स्थायी हल तो है ही नहीं, प्रत्युत यथार्थ

आध्यात्मिक अनुभव कायरता नहीं है।

मार्ग को त्यागना है। **जीवन से पीठ फेर कर भागने तथा मुँह मोडने से वह अपने ऊपर नयीनयी विपत्तियां बुला लगा। जीवन की प्रचंड लहरों की चोट खाकर वह बार बार अपने भ्रममूलक आश्रय-स्थल से च्युत होगा। जीवन से बचने का प्रयत्न करना निष्फल होगा।**

संसार से जान बचाकर जिस प्रकार मनुष्य अपनी पृथक सत्ता को बनाये रखने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार वह बाह्य पद्धतियों, रूढियों, आचारों तथा परंपरागत विधिओं का अज्ञानपूर्वक आश्रय लेकर अपनी पृथक सत्ता कायम रखने की कोशिश करता है। अधिकांश में ये बाह्य लोकाचार, रूढि तथा परंपरागत विधियां अनन्त जीवन के प्रवाह में बेडियां हैं। यदि दिव्य जीवन के प्रवाह में वे साधक हैं तो वे ग्राह्य हैं यदि वे बाधक हैं तो त्याज्य हैं। किंतु जिस सत्य को प्रकट करने के वे साधन होते हैं, उस सत्य को प्रकट न कर वे स्वयं साध्य बन जाते हैं। और इस अवस्था में सर्वथा त्याज्य और हेय हैं। ऐसी संकीर्ण रूढियों से जीवन सीमित होता है। **नवीन मानवता सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त रहेगी, और आत्मा के विधायक जीवन के लिए अनवरुद्ध क्षेत्र प्रदान करेगी। नवीन मानवता आत्मा को प्रधान तथा अन्य साधनों को गौण मानेगी।** मनुष्य भ्रमों तथा निःसार पदार्थों को त्याग

नवीन मानवता बाह्य विधियों और रूढियों पर आसक्त नहीं रहेगी।

कर सत्य तथा सारवान पदार्थों को अपनायेगा। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य अपनी पृथक सत्ता का परित्याग करेगा।

मनुष्य जीवन से पराङ्मुख हो कर या बाह्य रूपों पर आसक्त होकर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने की कोशिश करता है। उसी प्रकार कोई संकीर्ण वर्ग श्रेणी, मत, संप्रदाय या धर्म, स्त्री-पुरुष भेद से संबद्ध होकर अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने से मालूम तो यह होता है कि व्यक्तिने अपनी व्यक्तिगत सत्ता सामूहिक सत्ता में विलीन कर दी है, किंतु वह्तुत्वा वह समूह से संबद्ध हो कर अपनी व्यक्तिगत सत्ता को व्यक्त करता है। किसी खास संघ या समूह से नाता जोड कर वह दूसरे संघ, समूह, राष्ट्र, श्रेणी के लोगों से अपने आप को अलग समझता है। और इस अलगाव के विचार से उसे आनंद प्राप्त होता है।

किसी संकीर्ण समूह से संबंध सीमित व्यक्तित्व का ही एक रूप है।

पृथक अतित्व द्वंद के एक पहलू से साम्य प्राप्त करके तथा उसके दूसरे पहलू से अपना वैषम्य अनुभव करता है। एक विचार-धारा से संबद्ध होकर तथा दूसरी विचार-धारा से अपने आपको अलग समझ कर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। **किसी संकीर्ण समुदाय, श्रेणी या किसी सीमित आदर्श से संबंध स्थापित करने से पृथक सत्ता का**

सीमित व्यक्तित्व द्वंद के आश्रय से जीता है।

एकता में विलीन हो जाना सा दिखाई देता है। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। सीमित व्यक्तित्व का सार्वलौकिक अस्तित्व में यथार्थतः विलीन होने का अर्थ यह है कि सभी प्रकार की पृथक सत्ता एकदम भगा दी जाय।

विशाल मानव समूह पार्थक्य-मूलक तथा अहंकार प्रदान प्रवृत्तियों में फँस गया है। और जो मनुष्य मानव जाति के इन बंधनों के दृश्य से अभिभूत हो गया है, उसे मानवता के भविष्य के बारे में केवल निराशा ही निराशा दिखाई देगी।

भविष्य के लिये आशा

यदि मानवता की वर्तमान यंत्रणा का यथार्थ कारण जानना हो तो वास्तविकता की गहराई में उतरना चाहिये। संसार की वर्तमान परिस्थिति की सतह को ही जो देख सकते हैं वे भविष्य में उत्पन्न होनेवाली नवीन मानवता की संभाव्यता को देखने में असमर्थ हैं। किंतु नवीन मानवता की संभाव्यताएं विद्यमान हैं और आध्यात्मिक ज्ञान की एक चिनगारी उन्हें पूर्ण रूप से प्रज्वलित कर देगी। वासना, घृणा और लिप्सा की शक्तियां मानव जाति की अवर्णनीय पीडा और परिस्थिति की अस्तव्यस्तता के लिये जिम्मेवार हैं; **किंतु मनुष्य के स्वभाव के संबंध में एक संतोषजनक बात यह है कि युद्ध की उसकी प्रवृत्तियों में भी किसी न किसी प्रकार का प्रेम अवश्य रहता है।**

युद्धों के लिए भी सार्वजनिक सहयोग तथा पारस्परिक सहकारिता आवश्यक है। किंतु इस पारस्परिक सहकारिता का क्षेत्र किसी सीमित समूह या आदर्श से संबंध स्थापित करके संकीर्ण बना दिया जाता है। **एक प्रकार के प्रेम के द्वारा ही युद्ध भी लढे जाते हैं, किंतु वह प्रेम अज्ञान-मूलक होता है। ज्ञानपूर्व प्रेम तभी हो सकता है जब प्रेम सीमामुक्त हो कर असीम हो।** मानवीय जीवन की समस्त अवस्थाओं में प्रेम विद्यमान रहता है, किंतु वह सुप्त रहता है, सीमित होता है; और स्वार्थयुक्त व्यक्तिगत आकांक्षा, जातीय अभिमान, संकीर्ण भक्ति तथा प्रतिस्पर्धा, स्त्री-पुरुष भेद, राष्ट्रीयता, मत, जाति तथा धर्मकी अंध आसक्ति के द्वारा दूषित और विषाक्त हो जाता है। मानवता का पुनरुद्धार तभी हो सकता है जब मनुष्य का रुँधा हुआ हृदय मुक्त कर दिया जाय, ताकि उसमें नवीन प्रेम प्रवाहित होने लगे; **ऐसा प्रेम जो निर्दोष हो तथा जो वैयक्तिक तथा सामूहिक लोभ से पूर्ण मुक्त हो।**

प्रेम सीमा-मुक्त होना चाहिए।

अमित मात्रा में प्रेम जब प्रवाहित किया जायगा तभी नवीन मानवता का जन्म होगा। ऐसा प्रेम तभी प्रवाहित होगा जब गुरुओं के द्वारा मानव जाति की आध्यात्मिक जागृति होगी। **प्रेम निरे निश्चय से उत्पन्न नहीं होता, इच्छाशक्ति से अधिक हुआ तो मनुष्य कर्तव्यशील हो**

प्रेम प्रसरणशील होता है।

सकता है। संघर्ष और प्रयत्न से मनुष्य का कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से शुष्क और नीरस ही रहेगा, क्योंकि वह स्वेच्छा-मूलक आंतरिक प्रेम के सौंदर्य से वंचित रहेगा। प्रेम तो भीतर से सहज और स्वाभाविक गति से उत्पन्न होता है। वह किसी भीतरी या बाहरी शक्ति पर निर्भर नहीं रहता। प्रेम और दमन दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। यद्यपि प्रेम किसी पर जबरदस्ती लादा नहीं जा सकता, किंतु प्रेम प्रेम के द्वारा जागृत किया जा सकता है। **प्रेम स्वभावतः प्रसरणशील है। जिनके पास प्रेम नहीं है वे उनके पाससे उसे प्राप्त करते हैं जिनके पास प्रेम है।** जो दूसरों से प्रेम प्राप्त करते हैं वे बिना प्रतिदान दिए प्रेम के ग्राहक नहीं हो सकते, यह प्रतिदान प्रेम की ही तरह होता है। सच्चा प्रेम अजेय और अदम्य होता है। उसकी शक्ति बढती जाती है, उसका प्रसार और विस्तार बढता जाता है। जिसको वह स्पर्श करता है, उसे वह परिवर्तित कर देता है। **एक हृदय से दूसरे हृदय में प्रेम के अबाध प्रवाह होनेसे मानवता एक नवीन जीवन और नवीन अस्तित्व प्राप्त करेगी।**

दिव्य प्रेम द्वारा मानवता का त्राण।

जब यह बात हृदयंगम करली जायगी, कि सार्वलौकिक दिव्य जीवन प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु को अपने भीतर धारण करता है, तथा ऐसे जीवन से श्रेष्ठतर जीवन है ही नहीं, तब प्रेम न केवल सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अंतर-राष्ट्रीय जीवन में शांति सुख

तथा समता की स्थापना करेगा, किंतु वह अपनी सुंदरता एवं पवित्रता से प्रकाशमान होगा। दिव्य प्रेम द्वैत के आक्रमणों से विचलित नहीं होता। दिव्य प्रेम दिव्यता की अभिव्यक्ति है। दिव्य प्रेम के ही द्वारा नवीन मानवता दिव्य योजना से स्वरैक्य तथा तालैक्य प्राप्त करेगी। दिव्य प्रेम व्यक्ति के जीवन में अमर माधुर्य तथा अनंत आनंद प्रवाहित तो करेगा ही साथ ही साथ वह नवीन मानवता के नवीन युग का भी प्रारंभ करेगा। **दिव्य प्रेम की सहायता से नवीन मानवता सहयोगपूर्ण एवं समतायुक्त जीवन की कला सीखेगी, वह निर्जीव रूढियों से मुक्त होगी और, आध्यात्मिक ज्ञान का रचनात्मक जीवन व्यतीत करेगी। सभी भ्रमों को त्याग कर वह साथ में आरूढ होगी, वह शांति और स्थायी सुख का आस्वाद करेगी और वह अनन्त जीवन में प्रवेश करेगी।**

आध्यात्मिक जीवन में गूढविद्या का स्थान

(भाग १)

गूढ अनुभव का मूल्य

असाधारण आंतरिक शक्तियां मुक्ति के लिए सहायक हैं और बाधक भी।

मनुष्य के आत्मा के अंदर अनेक आंतरिक शक्तियां सुप्त रहती हैं। चेतना संस्कारों से जब क्रमशः मुक्त होती है, तो ये गुप्त तथा सुप्त शक्तियां, प्रकट एवं जाग्रत होती हैं। इन शक्तियों का जब उद्घाटन होता है, तब नाना प्रच्छन्न तत्वों और तथ्यों की जानकारी से साधक को असाधारण आंतरिक शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। इन शक्तियों का साधक सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। अतः चेतना की अंतिम मुक्ति के लिए, ये शक्तियां सहायक भी हैं, और बाधक भी। साधक को जो गूढ (Occult) अनुभव होते हैं, वे ये हैं:—अभूतपूर्व स्वप्न, असाधारण दृश्य, सूक्ष्म जगत् का दर्शन, तथा पारलौकिक (Astral) यात्राएं इत्यादि। इन गूढ अनुभवों के संबंध में, साधक को दो बातें जानना आवश्यक है। पहली बात यह, कि इन गूढ अनुभवों का यथार्थ महत्व क्या है, तथा दूसरी बात यह, कि बुद्धिभ्रंश एवं चित्तविभ्रम में तथा गूढ अनुभवों में भेद क्या है।

गूढ अनुभवों के प्रति दो प्रकार की प्रवृत्तियां देखी जाती हैं : एक तो उनकी अतिशयोक्ति और दूसरी उनका तिरस्कार।

गूढ अनुभवों का तिरस्कार अज्ञान जन्य है।

गूढ अनुभवों को, आवश्यकता से अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति, जिस प्रकार अनुचित है उसी प्रकार, उनकी सचाई पर संदेह करने की प्रवृत्ति भी गलत है। सर्वसाधारण की यह मनोवृत्ति होती है, कि वह असाधारण एवं दुर्ज्ञेय तथ्यों की सत्यता को न केवल अस्वीकार करता है, किंतु उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। गूढ अनुभवों पर भी यही बात लागू होती है। **जो लोग गूढ़ विद्या की 'अ–आ इ–ई' भी नहीं जानते, वे ही लोग गूढ अनुभवों की सत्यता को पूर्णतः अस्वीकार करते एवं इनका बिलकुल तिरस्कार करते हैं।** यह स्वीकार करना, कि ऐसे तथ्यों का भी अस्तित्व है जिनका ज्ञान कुछ इने गिने लोगों को प्राप्त है, और वे उन तथ्यों के ज्ञान से वंचित हैं, उनके अहंकार को क्लेश पहुँचाता है। गूढ विद्या क्या है, तथा वह कैसी होती है, इस संबंध में लोग कुछ भी नहीं जानते। इस अज्ञान के ही कारण, वे गूढ अनुभवों की निंदा एवं भर्त्सना करते हैं। बिना समझे–बूझे, गूढ विद्या की अकारण निंदा करना एक बात है; तथा उसकी सत्यता या मिथ्यात्व को जानने की उत्कंठा रखना, एवं उसके प्रति आलोचनात्मक रुख धारण करना, बिलकुल दूसरी बात है। **जो लोग सतर्क परीक्षणात्मक रुख धारण करते हैं, वे नम्र होते हैं, तथा वे गूढ तथ्यों के**

अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये तैयार रहते हैं, बशर्ते कि ऐसे तथ्य उनके अनुभव में आवें।

सद्गुरु साधक को प्रायः साधारण तरीकों से ही मदद करता है; और उसकी आँखों पर आवरण डालकर ही, उसे आध्यात्मिक पथ पर आगे बढाना पसंद करता है। किंतु, आवश्यक होने पर, वह गूढ साधनों का उपयोग करके भी, साधक की सहायता करता है। साधक के अंतःकरण के गंभीर तार को झंकृत करने के लिए, वह उसे विशेष प्रकार के स्वप्नों का दर्शन कराता है।

कुछ स्वप्न आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं।

यह बहुधा देखा गया है, कि सद्गुरु पहले साधक के स्वप्न में प्रकट हुए हैं और इस प्रकार, उन्होंने साधक से अपना संपर्क स्थापित किया किया है। इन विशेष स्वप्नों तथा सामान्य स्वप्नों का भेद समझना आवश्यक है। सामान्य स्वप्नों में, सूक्ष्म शरीर सक्रिय ढंग से देखने, चखने, सूँघने, सुनने, तथा छूने की क्रियाएं करता है; किंतु आत्मा पूर्णज्ञानपूर्वक सूक्ष्म शरीर का उपयोग नहीं करता। चूँकि ये सामान्य स्वप्न **उपचेतन** (Subconscious) मन की उत्पत्तियाँ हैं, वे अधिकांशतः **मनोभासस्वरूप** (Subjective) होती हैं। ये इंद्रियजन्य स्थूल अनुभवों से संबंध रखते हैं। ये स्वप्न मन में संचित उदयोन्मुख संस्कारों के परिणाम होते हैं। कुछ

स्वप्न ऐसे भी होते हैं, कि जो साधारण स्वप्न के सदृश ही मालूम होते है किंतु पूर्णतः आभासरूप नहीं होते हैं। इन स्वप्नों तथा सामान्य स्वप्नों का अंतर समझना कठिन होता है। ये स्वप्न सूक्ष्म शरीर के किसी वस्तुनिष्ठ (objective) अनुभव के प्रतिबिंब होते हैं, और वे स्वप्न के रूप में उपचेतन मन में प्रकट होते हैं। ऐसे स्वप्न केवल कल्पना के परिणाम नहीं होते।

अधिकांश स्वप्न पूर्णतः भासमात्र होते हैं। वे सूक्ष्म शरीर के उपचेतन (Subconscious) अनुभव होते हैं। इन स्वप्नों के द्वारा, या तो नवीन संस्कारों की सृष्टि होती है; या प्राचीन संस्कारों का व्यय होता है।

विरले प्रकार के स्वप्न।

इन स्वप्नों से व्यक्तिके अस्पृष्ट समस्याओं की विषमता का तथा गढ़े हुए संस्कारगंड (Complexes) का पता चलता है। इनके अतिरिक्त, सामान्य स्वप्नों का और कोई महत्व नहीं है। इन स्वप्नों में ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाइ देती, जो विगत जागृत अवस्था में न देखी जा चुकी हो। बीते जीवन में देखी गई बातें ही, नये नये रूप धारण करके नये नये प्रकार से, सामान्य स्वप्नों में प्रकट होती हैं। **विरले प्रकार के स्वप्न वे स्वप्न हैं, जिनके विषय इस जन्म में नहीं, किंतु पूर्वजन्म में देखे गए रहते हैं। इन स्वप्नों से भी विलक्षण, उन मनुष्यों या पदार्थों के स्वप्न**

होते हैं जो न तो वर्तमान जन्म में देखे गये रहते हैं और न पूर्वजन्म में देखे गये रहते हैं, किंतु जो भावी जीवन में दिखाई देनेवाले होते हैं। इससे ज्ञात होगा, कि सामान्य स्वप्न उन स्वप्नों से सर्वथा भिन्न होते हैं, जिनका गूढ महत्व होता है।

गूढ अनुभव का आरंभ

बहुधा जब साधक की आंतरिक शक्तियों का उद्घाटन होता है, तो उसे कई प्रसंगों पर, सूक्ष्म संसार के अनुभव प्राप्त होते हैं। महत्व-पूर्ण दृश्य, असाधारण प्रकाश, विचित्र वर्ण, विलक्षण ध्वनि, अद्भुत सुगंध तथा अनोखे संसर्ग इत्यादि के रूप में ये अनुभव प्राप्त होते हैं। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है, कि ये अनुभव यथार्थ होते हैं; तथा साधक उन्हें भ्रमात्मक समझने लगता है। **भले ही साधक उन्हें बुद्धि-भ्रंश समझे, किंतु वे इतने प्रबल और प्रभावशाली होते हैं, कि उनकी मार्गदर्शन-शक्ति को वह रोक नहीं सकता।** ऐसे गूढ अनुभवों के प्रति, सही रुख धारण करना, तथा उनका ठीक मूल्य आँकना, यदि साधक सीख ले, तो उसकी आध्यात्मिक यात्रा सहज और सुगम हो जाती है। किंतु आरंभ में ऐसे अनुभवों के प्रति सही रुख धारण करना ही साधक के लिए कठिण होता है।

जिसे पहले-पहले गूढ अनुभव होते हैं, अर्थात् जिसे अंतर्गत के ऐसे तथ्य मालूम होते हैं, जो अब तक उसे

मालूम नहीं थे, वह ऐस अनुभव या तथ्यों को, आवश्यकता से अधिक महत्व देते देखा जाता है, **या तो ऐसे तथ्यों को बार बार अनुभव करने की उसकी लालसा अदम्य हो जाती है; क्योंकि वह उन्हें आवश्यकता से अधिक महत्व देता है, या वह उन्हें असत्य तथा असाधारण घटनाएं समझ कर, उन्हें कुछ महत्व ही नहीं देता।** इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों में, गूढ तथ्यों को अनावश्यक महत्व देने की प्रवृत्ति अधिकतः देखी जाती है। गूढ तथ्यों की असाधारणता, तथा विरलता के ही कारण, उन्हें अनावश्यक महत्व दिया जाता है।

बहुत थोडे लोग गूढ अनुभव के प्रति सही रुख धारण करते हैं।

सच तो यह है, कि साधक का अहंकार गूढ तथ्यों के ज्ञान से बहुधा बढता है। वह यह सोचने लगता है कि उसे ऐसे तथ्यों को जानने का सौभाग्य या विशेषाधिकार प्राप्त है, जिनकी जानकारी से, अन्य लोग वंचित है। इन तथ्यों का जितना ही अधिक उसे अनुभव होता है, उतना ही अधिक वह इन तथ्यों को अनुभव करना चाहता है। आध्यात्मिक पथ पर, प्रत्येक कदम बढाने के लिए, गूढ अनुभव का प्रोत्साहन प्राप्त करने की उसकी उसी प्रकार आदत पड जाती, है, जिस प्रकार, नशे का व्यसन हो जाने पर, मनुष्य को ऐसे कामों के

गूढ अनुभवों की तृष्णा।

करने के लिए भी नशे की उत्तेजना की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिन कामों को पहले वह बिना नशे की उत्तेजना के कर सकता था। साधक ऐसी आदत का शिकार न हो जाय, इस लिए सद्गुरु इस बात का विशेष ध्यान रखता है, कि उसकी गूढ़ अनुभवों की तृष्णा न बढने पावे। **चाहने, या अपेक्षा करने से गूढ अनुभव नहीं प्रदान किये जाते। ये अनुभव सद्गुरु द्वारा शिष्यों को कृपया तभी प्रदान किये जाते हैं, जब सद्गुरु को ऐसा करने की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत होती है।**

गूढ अनुभवों की तृष्णा दूर कैसे की जाती है।

जब गुरु यह देखता है, कि साधक गूढ़ अनुभवों को आवश्यकता से अधिक महत्व दे रहा है, तथा ऐसे अनुभव को बार बार प्राप्त करने की उसकी तृष्णा अदम्य होती जा रही है, तो वह साधक को ऐसे अनुभवों से वंचित कर देता है, जिससे उसकी तृष्णा दूर हो, और उसे वह मालूम हो जाय, कि ये गूढ अनुभव उसका लक्ष्य नहीं हैं, बल्कि ये उसकी लक्ष्य की ओर बढने के साधन हैं। यह मानो रोग के मूल कारण को शस्त्रक्रिया से दूर करके, रोगी को आराम के समान है। इस प्रकार, सद्गुरु जिज्ञासु को नवीन बंधनों से बचाता है। सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त हो कर, अनन्त सत्य को प्राप्त करना, साधक का लक्ष्य होना चाहिये। उसे, साधनों के लोभ में, इतना नहीं

ड जाना चाहिये, कि वह उन पर आसक्त हो कर, साध्य को ही भूल बैठे। साधनों पर ही रीझ जाने से, लक्ष्य तक पहुँचने में अनावश्यक विलंब होगा। साधक बहुत धीरे धीरे ही समस्त गूढ तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। **सद्गुरु साधक को इन तथ्यों का ज्ञान कराने में शीघ्रता नहीं करता, क्योंकि इन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, बहुत थोडे ही मनुष्य वास्तव में अधिकारी होते हैं।**

गूढ अनुभवों का प्रामाण्य या विश्वसनीयता

शुरुशुरु में, गूढ अनुभव बहुत ही अस्थिर और क्षणिक होते हैं। वे इतने अल्प काल के लिए प्रकट होते हैं, कि साधक कभी-कभी उनकी सत्यता पर संदेह करने लगता है। वह उन पर विश्वास करने में, बडी सावधानी से चलता है। क्योंकि चित्त-विभ्रम की भी संभावना रहती है। किंतु **गूढ अनुभव इतने प्रामाणिक और विश्वसनीय होते हैं, कि उनकी सचाई पर संदेह करना मुष्किल हो जाता है। उनकी प्रामाणिकता** (Validity) **तथा विश्वसनीयता भले ही पहले पहले प्रकट न हो, किंतु उनका परिणाम इतना असाधारण, आनंद-दायक, शांतिजनक तथा प्रभावशील होता है, कि ऐसे अनुभव के प्रति आदर तथा ध्यान उत्पन्न हुए बगैर नहीं रह सकता।** गूढ अनुभवों की प्रभावसंबंधी या

परिणामविषयक इन्हीं विशेषताओं के कारण, साधक गूढ अनुभवों की बुद्धिभ्रंश एवं चित्तविभ्रम से भिन्नता मालूम करता है।

उद्भ्रान्ति तथा चित्त-विभ्रम से गूढ अनुभव भिन्न होते हैं।

बिना आवाज से ही आवाज सुनना, या बिना किसी वस्तु के अस्तित्व के ही, वस्तु को देखना चित्तविभ्रम (Hallucinations) के लक्षण हैं। चित्तविभ्रम उद्भ्रान्ति (Delusion) तथा कोरी कल्पना से यद्यपि भिन्न है, तथापि चित्तविभ्रम की अवस्था में, सुनी या देखी गई वस्तुओं का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं रहता, किंतु ये वस्तुएं उसी प्रकार दिखाई देती हैं, जिस प्रकार सचमुच में विद्यमान वस्तुएं हमें दिखाई देती हैं। उद्भ्रान्ति में यद्यपि ऐसी वस्तुएं देखी जाती हैं, जिनका अस्तित्व नहीं रहता, किंतु उनपर इतना निश्चयात्मक विश्वास हो जाता है, कि उनके अस्तित्व पर लेश मात्र संशय नहीं रह जाता। किंतु उद्भ्रांति (Delusion) तथा विभ्रम (Hallucination) दोनों से, उद्भ्रांत तथा विभ्रमित मनुष्य को आनन्द या शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। एक यही कसौटी है, जिस पर कसने से गूढ अनुभव एवं उद्भ्रान्ति और चित्तविभ्रम का भेद समझा जा सकता है, और वह यह, कि **गूढ अनुभव परिणामतः आनन्ददायक एवं शान्तिप्रद होते हैं; उद्भ्रान्ति और चित्तविभ्रम**

न तो आनन्ददायक होते हैं और न शान्तिप्रद। उद्भ्रान्ति तथा चित्तविभ्रम जागृत के विकार हैं।

उद्भ्रांति, चित्तविभ्रम तथा सब प्रकार के भ्रमों से, गूढ अनुभव की विभिन्नता सिद्ध हो जाने पर भी, गूढ अनुभव अपनी शक्ति तथा प्रभाव उत्पन्न करने में, असमर्थ हो जाता है, और महान् संदेह का विषय बन जाता है। ऐसा अक्सर तब होता है, जब गूढ तथ्य (Occult Reality) का अनुभव करनेवाला व्यक्ति औरों के साथ उस तथ्य के संबंध में बहस करता है। अन्य लोग ऐसे तथ्यों को समझने में असमर्थ होते हैं; अतः पूर्ण सदाशयता के साथ, उसके संबंध में, प्रतिकूल विचार प्रकट करके, वे साधक की निजी धारणा को डाँवाडोल कर देते हैं। इसी वजह, पुराने जमाने में सद्-गुरु शिष्य को अपने गूढ अनुभवों को गुप्त रखने, तथा किसी के समक्ष उन्हें प्रकट नहीं करने की सलाह देते थे। **जब तक, साधक दूसरों के कथन की परवाह न करके, अपने अंतरात्मा की प्रेरणापर अटल विश्वास करना नहीं सीखेगा, तब तक उसके गंभीर अनुभव का अन्य शंकाशील मनुष्य खंडन करेंगे, और उसके प्रबल विश्वास को डिगा कर उसको शिथिल कर देंगे।** यदि साधक शीघ्र उन्नति करने का इच्छुक है, तथा सद्-

गूढ सहायता से आत्मविश्वास की वृद्धि करना ही उससे लाभ उठाना है।

गुरु की गूढ सहायता का लाभ उठाना चाहता है, तो उसे अपने आपपर तथा अपने सद्गुरु पर अटल विश्वास रखना चाहिए। दूसरे मनुष्यों से पथ-प्रदर्शन की उसे आशा नहीं करना चाहिए, क्योंकि **उसकी समस्याओं तथा, उसके अनुभवों को समझनेवाले लोग संसार में** थोडे ही रहेंगे। साधक को वास्तव में इस संभावना का भी सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए, कि उसके सारे मित्र तथा उसके सारे परिवारवाले एवं संबंधी न तो उसे ठीक से समझते हैं, और न उन्हें उसकी विचार-धारा तथा उसके जीवन की दिशा का जरा भी ज्ञान रहता है।

गूढ अनुभव का यदि यह फल हुआ, कि उसके द्वारा आध्यात्मिक उद्यम को नया बल और उत्साह प्राप्त हुआ, तो कहना चाहिए, उसका वांछित प्रयोजन सिद्ध हो गया। फिर विश्लेषण सिंहावलोकन करके, भले ही साधक उसे एक प्रकार का भ्रम ही समझे। तथापि, **कुछ गूढ अनुभव ऐसे भी दिये जाते हैं, जो साधक को असंदिग्ध प्रोत्साहन और प्रेरणा देते, तथा उसका निश्चयात्मक पथ-प्रदर्शन करते हैं।** ये खास प्रकार के अनुभव, साधक के लाभ के लिए, जानबूझ कर, कृपया प्रदान किये जाते हैं। ये अनुभव इतने प्रामाणिक तथा विश्वसनीय होते हैं, कि साधक को

गूढ अनुभव तथा उनके प्रति संशय

सचाई तथा महत्ता के प्रति शंकाशील नहीं होना चाहिए। किंतु गूढ अनुभवों के संबंध में, बार बार प्रमाण तथा समर्थन खोजना, निश्चयतः अनुचित है। सद्गुरु उनके प्रामाणिकता का (Validity) समर्थन तभी देता है, जब वह आवश्यक समझता है। परिस्थिति की आवश्यकता का निर्णय करके, वह स्वयं अपनी इच्छा से ऐसा करता है। वह जो कुछ भी करता है, अपने **मुक्त ज्ञान** की प्रेरणासे सहजरूप से करता है। गुरु का कार्य, साधन की अज्ञान-मूलक इच्छा या अपेक्षा पर, निर्भर नहीं रहता। सद्गुरु आध्यात्मिक आवश्यकता के अनुसार, गूढ अनुभव की उपयुक्तता बढाने के लिए, **ऐसे समर्थन तथा प्रमाण भी व्यक्ति के प्रत्यक्ष तथा साधारण अनुभव से उपस्थित करता है, जिससे ऐसे गूढ अनुभवों के सचाई पर विश्वास उत्पन्न हो सके,** और इन अनुभवों से लाभ उठा कर साधक को, पथ पर अग्रसर होने में, नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो।

सूक्ष्म अंतर्जगत्की यात्राएं।

पथ में उन्नत साधक, सूक्ष्म–जगत् की शक्तियों का, स्वतंत्रतापूर्वक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से, उपयोग करने का अधिकारी हो जाता है। अपने स्थूल शरीर को जागृत या निद्रित अवस्था में, छोड कर वह अपने सूक्ष्म शरीर की सहायता से सूक्ष्म अंतर्जगत् की यात्राएं (Astral Journeys) करने में अभ्यस्त हो जाता है। सूक्ष्म अंतर्जगत् की यात्रा अज्ञानतः भी की जा सकती है, तथा सज्ञानतः भी। ज्ञान-

पूर्वक तथा संकल्प की प्रेरणा से की जानेवाली यात्रा अधिक महत्वपूर्ण होती है। ऐसी यात्रा में सूक्ष्म शरीर का सज्ञान उपयोग किया जाता है। स्थूल शरीर से जब सूक्ष्म शरीर का सज्ञान अलगाव होता है, तो आत्मा स्थूल शरीर अपने पृथकत्व का विशेष अनुभव है, तथा इस प्रकार, स्थूल शरीर को जब चाहे, तब उतार सकता है, और जब चाहे, तब पहन सकता है। स्थूल शरीर को उतार के सूक्ष्म शरीर के आश्रय से ही, वह सूक्ष्म जगत् की सैर करता है। सूक्ष्म जगत् की वह इच्छानुसार तथा आवश्यकतानुसार यात्रा कर सकता है।

कार्यक्षेत्र का विस्तार।

सूक्ष्म शरीर का सज्ञान उपयोग करने पर, जिन दृश्यों, सुगंधों, रसों, संसर्गों तथा ध्वनियों के अनुभव होते, हैं, वे वैसे ही स्पष्ट और सत्य होते हैं, जितने स्थूल अनुभव। सामान्य स्वप्नों के समान वे अस्पष्ट तथा भ्रमात्मक (Subjective) नहीं होते, किंतु जागृत अवस्था के अनुभवों के समान, सत्य प्रभावपूर्ण होते हैं। सूक्ष्म जगत् की यात्रा करने की शक्ति मिलने पर, अनुभव तथा कार्य के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है, जिससे न केवल निजी उन्नति का अपेक्षाकृत अधिक अवसर प्राप्त होता है, किंतु आध्यात्मिक पथ में पदार्पण न किये रहनेवालों की सहायता करने का भी, अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है।

गूढ शक्तियों को निजी आध्यात्मिक चेष्टा का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए। साधक की आंतरिक चेष्टा पूर्ववत् जारी रहनी चाहिए। **सद्गुरु प्रदत्त गूढ अनुभव आवरणोच्छिन्न अंतः-प्रज्ञा** (Intuition) **को प्रकट करते हैं, पथ की कुछ मुश्किलों को दूर करते हैं, तथा साधक को उत्साह तथा आत्मविश्वास से युक्त करते हैं, जिनके बल पर वह पंथ की शर्तें संभाल सके। किंतु साधक अपने हृदय की अंतःप्रज्ञा के अनुसार आचरण करने से ही उन्नति करता है। केवल गूढ अनुभवों को प्राप्त करने से उसकी उन्नति नहीं होती।**

गूढ अनुभव अंतःप्रज्ञा का साधन है, न कि उसका पर्याय।

———

आध्यात्मिक जीवन में गूढ विद्याका स्थान

(भाग २.)

आध्यात्मिक जीवन का गूढ तत्व-संबंधी आधार

अंतर्जगत् की रचना और नियमों का जिन्हें आरंभिक ज्ञान भी प्राप्त है, उन्हें विदित है, कि मनुष्य का शेष मनुष्यों से असंबद्ध होना असंभव है। ऐसा सोचना कि मनुष्य अन्य मनुष्यों से पूर्णतः असंलग्न है, कोरी कल्पना है। भले ही मनुष्य अन्य मनुष्यों से न मिले, तो भी वह औरों पर अपने विचारों का प्रभाव डालता रहता है, तथा औरों के विचारों से प्रभावित होता रहता है। मनुष्य का जीवित रहना ही इस बात की साक्षी है, वह चाहे या न चाहे, वह अन्य मनुष्योंपर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, और, अन्य मनुष्यों के विचारों से, स्वयं प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मनुष्यों के बीच विचारों के निरंतर आदान-प्रदान को कोई भी व्यवधान रोक नहीं सकता। अंतर्जगत् के वैद्युतिक प्रभाव के प्रवाह का प्रतिरोध असंभव है। देश, काल, तथा दूरी या अन्य भौतिक रुकावटें विचारों के आंतरिक यातायात को रोकने में, असमर्थ हैं।

अंतर्जगत् में मनुष्यों के बीच विचारों का निरंतर आदान-प्रदान जारी रहता है।

अच्छे विचार भी तथा बुरे विचार भी, आनंदित मनःस्थिति, भव्य और उदात्त भाव तथा क्षुद्र और संकीर्ण भावनाएं निःस्वार्थ प्रवृत्तियां तथा स्वार्थ–युक्त आकांक्षाएं,—ये सब फैलते तथा औरों पर अपना असर डालते हैं। य शब्दों और कार्यों में प्रकट न होने पर भी, एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। **जिस प्रकार, स्थूल संसार संयुक्त तथा संबद्ध अस्तित्व है, उसी प्रकार, सूक्ष्म मानसिक संसार भी, संयुक्त तथा एकतामय अस्तित्व है।** स्थूल संसार आध्यात्मिक जीवन का एक माध्यम है, और उसका बडा भारी महत्व है, यह एक असंदिग्ध सत्य है। स्थूल संसार में, मनुष्यों के बीच कार्यों और विचारों का जो बाह्य आदान–प्रदान होता है, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण मनुष्यों का आंतरिक तथा मानसिक संबंध एवं संपर्क है। मनुष्यों के बाह्य संबंध उसके अदृश्य आंतरिक संबंध की स्थूल अभिव्यक्तियां हैं।

दर्शन और सहवास का महत्व

सूक्ष्म जगत् की आंतरिक भूमिकाओं के ज्ञान के बिना, संतों और सद्गुरुओं के दर्शन का यथार्थ महत्व नहीं समझा जा सकता। प्राचीन ऋषिओंने, संतों तथा सद्गुरुओं के दर्शन को विशेष महत्व दिया है, **क्योंकि उनसे प्रेम और प्रकाश निरंतर प्रवाहित होते रहते हैं। सद्गुरु और संत भले ही मुखसे न बोलें,**

और दर्शक को कोई शाब्दिक उपदेश या आज्ञा न भी दें, तो भी, वे दर्शनमात्र से साधक के अंतःकरण-पर, प्रचंड प्रभाव डालते हैं। दर्शन का प्रभाव साधक की ग्रहण-शक्ति तथा प्रत्युत्तर पर निर्भर रहता है। साधक का सद्गुरु के दर्शन से प्रभावित होना, उसके संस्कारों पर निर्भर रहता है। बहुधा साधक सद्गुरु के दर्शनमात्र से संतुष्ट हो जाता है, और वह सद्गुरु के दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु की चाह नहीं करता। सदगुरु के दर्शन-भाव से ही आनंद और संतुष्टि प्राप्त करना स्तुत्य है, क्योंकि इससे साधक की इच्छा-शून्यता और प्रेम का परिचय मिलता है। इच्छाशून्यता और प्रेम ही तो आध्यात्मिकता के वास्तविक लक्षण हैं। परम प्रियतम का दर्शन प्राप्त करके, साधक बार बार दर्शन चाहता है। दर्शन के अतिरिक्त, वह और किसी बात की इच्छा नहीं रखता। इस भाँति, सद्गुरु के अधिक **सहवास** प्राप्त करने की आध्यात्मिक इच्छा से साधक प्रेरित होता है। दर्शन के उपरांत, गुरुसहवास दर्शनप्रभाव को गहरा और बलिष्ट बनाता है। परिणामतः साधक अंतर्लोक में सद्गुरु के अधिकाधिक निकट खिंचता जाता है।

दर्शन की तरह सद्गुरु के चरणों पर साष्टांग दंडवत भी लाभदायक होता है। पाँव शरीर के निम्नतम भाग हैं, किंतु आध्यात्मिक दृष्टिसे पाँव सर्वोच्च भाग हैं। शारीरिक दृष्टिसे,

पाँव अच्छा और बुरा, सुरूप और कुरूप, स्वच्छ और मलिन, सभी का स्पर्श प्राप्त करके भी, सबसे अलग रहते हैं।

सद्गुरु के चरण

अतः आध्यात्मिक दृष्टिसे सद्गुरु के पाँव संसार की सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ हैं। संसार तो सद्गुरु के चरण की धूल की तरह है। **जब मनुष्य सद्गुरु के पास पहुँचते हैं, और उसके चरणों को अपने हाथों से छूते हैं, तो वे अपने संस्कारों का बोझ उन पर डाल देते हैं।** जिस प्रकार, साधारण मनुष्य चलते फिरते अपने पाँवों पर संसार की धूल संचित करता है, उसी प्रकार, सद्गुरु सारे संसार-भर से संस्कारों को बटोरता है। एक प्राचीन प्रथा है, कि सद्गुरु का दर्शन करके, उसके चरणों पर गिरने के पश्चात् साधक उसके चरणों को दुग्ध और मधु से धोता है, और उसके चरणों के निकट एक नारियल अपनी भेंट की तरह रख देता है। शहद लाल संस्कारों का प्रतिनिधित्व करता है; दूध सफेद संस्कारों का प्रतिनिधित्व करता है; और नारियल मन का प्रतिनिधित्व करता है। कई स्थानों में यह प्रथा स्थायी हो गई है। यह प्रथा अपने संस्कारों का भार सद्गुरु पर डालने, तथा अपने मन को उन्हें अर्पित करने का प्रतीक है। सद्गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण करना आध्यात्मिक जीवन की महत्वपूर्ण शर्त है। आध्यात्मिक पथ में, शिष्य तभी प्रवेश करता है, जब वह यह प्राथमिक शर्त पूरी करे।

एक बार जब साधक सद्गुरु का दर्शन कर लेता है, तो फिर गुरु का वह दृश्य उसके मन में अंकित हो जाता है। गुरु का बार बार शारीरिक संपर्क प्राप्त न कर सकने पर भी, उसका मन बार बार गुरु की ओर फिरता है; और वह गुरु के महात्म्य को हृदयंगम करने का प्रयत्न करता है।

बीती हुई घटनाओं की काल्पनिक स्मृति, तथा गुरुसे मानसिक संपर्क स्थापित करने में बडा भारी फर्क है। विगत बातों की याद करने में कोई निश्चित प्रयोजन का होना आवश्यक नहीं है। किंतु गुरु से मानसिक संपर्क स्थापित करने में एक निश्चित प्रयोजन रहता है। **प्रयोजनमूलक निर्देशक शक्ति** की विद्यमानता के कारण गुरु-स्मरण मन में विचारों मात्र का काल्पनिक चक्कर नहीं हुआ करता। ऐसा स्मरण गुरु के पास पहुँचता है; और उनसे आंतरिक संपर्क की स्थापना हो जाती है। गुरु से ऐसा मानसिक संपर्क स्थापित करना उतना ही लाभदायक है, जितना उनका साक्षात् दर्शन करना। भीतर ही भीतर गुरु का इस प्रकार बार बार स्मरण करना, गुरु और शिष्य के बीच में ऐसे प्रवाह-पथ की रचना है, जिसके सहारे दोनों के बीच की दूरी के बावजूद भी, गुरु के पास से निःसृत होने वाले अनुग्रह, प्रेम और प्रकाश का स्रोत शिष्य तक पहुँचता है। **इस भाँति, गुरु की सहायता उनके शारीरिक संपर्क में रहने वालों को ही प्राप्त नहीं होती;**

मानसिक संपर्क

उनके पास भी पहुँचती हैं, जो उनसे दूर रह कर भी, मानसिक संपर्क स्थापित करते हैं ।

शिष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर, गुरु का सर्वप्रथम ध्यान जाता है । वह सर्वप्रथम शिष्य को ऐसे प्रभावों से बचाता है, जो उसका ध्यान आध्यात्मिक पथ से अन्यत्र खींचते हैं, और उसकी आध्यात्मिक उन्नति में हस्तक्षेप करते हैं । आध्यात्मिक उन्नति में विघ्न डालने वाले संस्पर्शों से, शिष्य की रक्षा के लिए, गुरु शिष्य को कुछ काल तक एकांत में रहने की आज्ञा देता है । अपने गुरु की आज्ञा अनुसार, प्राचीन काल के योगी अपना भोजन अपने हाथ से ही पकाते थे; और भोजन करते समय किसी भी मनुष्य को अपने पास नहीं रहने देते थे । इसका कारण यह था, कि वे बुरे विचार के लोगों की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से, अपने आपको दूर रखना चाहते थे । जिस प्रकार, स्वच्छ वस्त्र गंदगी से दूषित हो सकता है, उसी प्रकार, शिष्य का मन अन्य मनुष्य की वासना के संस्कार से प्रभावित हो सकता है । जो लोग पथ में नहीं हैं, उनकी संगति करने से, तथा उनसे संसर्ग स्थापित करने से शिष्य को हानि की संभावना रहती है । अतः ऐसे लोगों से अलग रहना ही, शुरु शुरु में श्रेयस्कर होता है । **किंतु विशेष परिस्थिति में ही, विशेष आवश्यक होने पर, गुरु कुछ संबंधों और**

कुछ गूढ अवस्थाओं के लिए विशेष चेतावनी दी जाती है ।

संपर्कों को तोडने, या उनसे बिलकुल दूर रहने की विशेष आज्ञा देता है। गुरु के सहवास से, ऐसी कठिनाईयाँ आप ही आप दूर हो जाती हैं। गुरु का सहवास करने पर, औरों से संबंध या दूर रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किंतु, शिष्य के संसार में रहते हुए भी उसका मन संसार से अलिप्त तथा अनासक्त रह सकता है, क्योंकि उसका मानसिक संपर्क गुरु से रहता है।

सहायक संसर्ग तथा संग।

जिस प्रकार, गुरु अपने निकटवर्ती शिष्य को उसके कुछ अवांछनीय संपर्कों तथा संबंधों से अलग रहने के लिए कहता है, उसी प्रकार, वह उसे कुछ नये व्यक्तियों से नवीन संबंध स्थापित करने, और उनकी संगति करने के लिए कहता है, जिससे शिष्य को लाभ पहुँचे। गुरु को सभी मनुष्यों के कर्म–बंधनों तथा संस्कारों का पूर्ण ज्ञान रहता है। अतः वह ऐसे लोगों से संग और संसर्ग करने के लिए कहता है, जिनका संग संसर्ग और पारस्परिक लाभ के लिए उत्तम होता है। गुरु की आज्ञा के अनुसार संग और संगति करने से, शिष्य को, आध्यात्मिक यात्रा करने में, अत्यंत सुविधा और सुभीता रहता है। **दूसरे लोगों के पूर्वजन्मों, उनके संस्कारों तथा गुणावगुणों का गुरु को पूर्ण ज्ञान रहता है। अतः वह ऐसे ही ससर्गों और संपर्कों को प्रोत्साहित करता है, जिनसे**

आध्यात्मिक शक्ति का अपव्यय और दुरुपयोग न हो, तथा उसका सर्वोत्तम उपयोग किया जा सके।

अंतर्जगत् की एकता तथा संलग्नता के सबब, गुरु शिष्य को माध्यम बनाकर अपना आध्यात्मिक कार्य करता है, यद्यपि शिष्य यह नहीं जानता, कि उसके द्वारा कौनसा कार्य कराया जारहा है। शिष्य गुरु को समझता है तथा उसे प्रेम करता है। इस ज्ञान प्रेम, आज्ञापालन तथा आत्म-समर्पण के द्वारा, गुरु और शिष्य के बीच में, आध्यात्मिक संबंध हो जाता है। और शिष्य का गुरु के साथ स्वरसंगति तथा तालैक्य (Rapport) बँध जाता है। जो गुरु के प्रत्यक्ष संपर्क में आते हैं, वे गुरु की प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करते हैं; तथा जो गुरु के शिष्यों के संपर्क में आ जाते हैं वे गुरु की अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करते हैं।

शिष्य गुरु का माध्यम होता है।

आध्यात्मिक कार्य में भाग लेना एकांगी नहीं होता। वे शिष्य भी जो गुरुचिंतन तथा गुरुध्यान करते हैं, गुरु के उस आध्यात्मिक तथा सार्वलौकिक कार्य में भाग लेते हैं, जिसमें वह उस समय लगा रहता है। अनन्त से युक्त होने के कारण गुरु कालातीत होता है। किंतु मानवता के उद्धारार्चिंतन के कारण, यह काल की सीमायें अपने ऊपर धारण करता है। इस दृष्टि से, शिष्य गुरु की स्वेच्छापूर्वक सेवा

करके, गुरु को सहायता पहुँचाते हैं । शिष्यों का प्रेम गुरु का भोजन है। **शिष्यों से गुरु केप्रति जो प्रेम प्रवाहित होता है, उसका गुरु अपने सार्वलौकिक कार्य में उपयोग करता है** । इस दृष्टीकोण से, गुरु उस **वितरणकेंद्र** Relaying Station के समान है, जो गति को सिर्फ इसी लिये ग्रहण करता है, क्यों कि वह उसे संसार में वितरण करना चाहता है । गुरु को प्रेम करना वस्तुतः समस्त संसार को प्रेम करना है । गुरु जितना भी प्रेम सूक्ष्म जगत् में प्राप्त करता है, उसे वह आध्यात्ममय बनाकर, संसार में बाँट देता है । इस प्रकार, शिष्यों का प्रेम प्राप्त करके, वह व्यक्तिगत संबंध ही दृढ नहीं करता, किंतु वह शिष्यों को अपने दिव्य कार्य में हाथ बँटाने का विशेष अधिकार भी प्रदान करता है ।

गुरु मानों एक वितरणकेंद्र है ।

असंख्य उपायों के द्वारा, गुरु शिष्य को अपनी सत्ता में समाविष्ट करने की चेष्टा करता है । लाखों ढंग से, वह शिष्य की संसारासक्ति भंग करने का प्रयत्न करता है, ताकि शिष्य वास्तव में ईश्वरप्राप्ति की इच्छा करें । ईश्वरप्राप्ति की लालसा साधक में पूर्व से ही विद्यमान रहती है, किंतु साधक के अंतर्चक्षु को खोल गुरु इस प्रारंभिक आकांक्षा को तीव्र और सुस्पष्ट करता है । **अंतर्चक्षु के खुलने पर, शोध और आकांक्षा का विषय,**

अंतर्चक्षु ।

अर्थात् ईश्वर, प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जब आत्मा की दृष्टि अंतर्मुख होती है, और परम सत्य पर केंद्रित होती है, तब उससे युक्त होने की आकांक्षा अपेक्षाकृत अत्यंत प्रचंड और तीक्ष्ण हो जाती है। आरंभ में यह इच्छा एक अंदाज या कल्पना मात्र होती है। योग्य समय के आने पर, गुरु अंतर्चक्षु को एक क्षण से भी कम समय में खोल देता है।

शिष्य को यह महसूस करना पडता है, कि ईश्वर ही परम सत्य है और वह उस ईश्वर से युक्त है। इसका यह अर्थ है, कि नाना नामरूपात्मक संसार के जंजाल से, उसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। **यथार्थ में सारा संसार आत्मा के भीतर है; और आत्मा के भीतर विद्यमान एक लघु बिंदु ॐ से ही संसार अस्तित्व में आता है।** किंतु आत्मा को, किसी आधार के आश्रय से अनुभव प्राप्त करने की आदत हो जाती है। अतः वह संसार को अपने से बाहर समझता है; और उसे अपना भयंकर प्रतिद्वंद्वी मानने लगता है। **ईश्वर का जिसे ज्ञान है वे निरंतर यह देख रहे हैं कि समस्त ससार इस लघु ॐ बिंदु से उत्पन्न हो रहा है।** यह ॐ बिंदु प्रत्येक के अंदर विद्यमान है।

ॐ बिंदु

इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) की प्रक्रिया सृष्टि की प्रक्रिया के साथ ही साथ चलती है। चेतना को मिटाये बिना,

इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की उलट प्रक्रिया (reversing) सृष्टि की पृथक् सत्ता को शून्यवत् समझना है। आत्मा पहले मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, फिर सूक्ष्मचक्षु के द्वारा, और अंत में दृहचक्षु के द्वारा।

इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की उलट प्रक्रिया (Reversing the process of Perception)

किंतु आत्मा जितना ज्ञान प्राप्त करता है या जिस संसार का ज्ञान प्राप्त करता है स्वयं वह उससे विशाल और महान है। आत्मा की तुलना में महासमुद्र तथा विशाल आकाश अत्यंत लघु हैं। **आत्मा जिसका बाहरी ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुतः सादि और सान्त किंतु स्वयं आत्मा अनादि और अनन्त है।** पूर्ण चेतना साथ में रख कर भी, जब आत्मा बाहर कुछ भी नहीं देखता, तब वह स्वरचित संसार को पार कर जाता है, और वह अपने को सब कुछ जानने का महत्वपूर्ण पग उठाता है।

संसार से चेतना ज्यों ज्यों वापिस खींची जायगी, और अंतर्मुख चेतना ज्यों ज्यों आत्मा का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करती जायगी, त्यों त्यों चेतना के साधनों पर, अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हो जायगा।

सिद्धियां

चेतना के अंतर्मुख होने से, वे नियामक केंद्र (चक्र) सजीवी तथा क्रियाशील हो जाते हैं, जिनका अब तक चेतना ने उपयोग नहीं किया है। इन केंद्रों के सजीव तथा क्रियाशील होने से, चेतना को चेतना के साधनों पर अधिकाधिक अधिकार

प्राप्त हो जाता है। इन नवीन केंद्रों के जागृत होने से अनेक गूढ शक्तियां प्राप्त होती हैं। ये शक्तियां सामान्यतः सिद्धियां कहलाती हैं। साधक के आध्यात्मिकता में पूर्ण होने के पहले ही ये सिद्धियां प्राप्त हो जाती है। इन सिद्धियों की प्राप्ति से, अहंकार के बढने की संभावना रहती है। साधक इन गूढ शक्तियों की प्राप्ति से, न केवल गर्वित और आल्हादित होता है, किंतु सांसारिक उद्देशों की प्राप्तियों के लिये, वह इन सिद्धियों का दुरुपयोग कर सकता है। कहना न होगा कि सांसारिक वासनाओं से वह इस अवस्था में मुक्त नहीं हुआ रहता। अतः सिद्धियां ईश्वरानुभूति में बाधा डालती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। ईश्वरानुभूति हो जाने पर, इन सिद्धियों या गूढ शक्तियों का महत्त्व नहीं रह जाता। **सिद्धियां शून्य स्वरूप संसार से ही संबंध रखती हैं, अतः ईश्वर का जिसे ज्ञान हो जाता है वह इन सिद्धियों का कुछ भी मूल्य नहीं समझता।** ईश्वर–ज्ञान की तुलना में ये सिद्धियां कुछ नहीं के तुल्य होती हैं। ईश्वर–वेत्ता पुरुष यद्यपि संसार को शून्य के सदृश मानता है, तथापि संसार के बद्ध जीवों को मुक्त करने के लिए, वह स्वयं सीमाएं ग्रहण करता है; और इस हालत में, वह दूसरों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए, स्वतंत्र तथा उचित ढंग से, गूढ शक्तियों और सिद्धियों का सदुपयोग करता है।

ज्ञानी गुरुओं के वश के बाहर कुछ भी नहीं रहता। जिन उच्च भूमिकाओं पर वे स्थित रहते हैं, वहाँ की शक्तियों

को प्रवाहित करके वे युद्ध, क्रांति संस्पर्शजन्य रोग, भूकंप, बाढ, तथा, अन्यान्य परिवर्तनों का निर्देश और संचालन करते रहते हैं। **संयुक्त तथा सहयोगपूर्ण आध्यात्मिक कार्य** को संपन्न करने के लिए, गुरु अपनी गूढ शक्तियों का भी उपयोग कर सकते हैं। मानवता के उत्कर्ष के लिए वे उच्च भूमिकाओं पर कभी कभी सभाएं भी करते हैं। **सर्वगत, तथा सर्व-व्याप्त परमात्मा एक तथा अद्वितीय है। और एकतापूर्वक ही वह कार्य करता है।** जिन्हें इस एकता का ज्ञान हो जाता है, वे अनन्त उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के योग्य हो जाते हैं, चूँकि वे मानवीय मन की सीमाओं से मुक्त हो गए रहते हैं, तथा उनका भाव इतना स्वार्थ-शून्य एवं सार्वलौकिक हो जाता है, **कि वे पृथ्वी पर दैवी योजना को कार्यान्वित करने के लिए, उपयुक्त माध्यम बन जाते हैं।**

दैवी योजना को कार्यान्वित करना।

——

गूढ विद्या का आध्यात्मिक जीवन से संबंध

(भाग २ रा)

गूढ विद्या तथा आध्यात्मिकता

गूढ विद्या (Occultism) अन्य भौतिक शास्त्रों के समान ही एक शास्त्र है । वह जगत तथा मानवीय व्यक्तित्व के अध्ययन से संबंध रखती है । अन्य शास्त्र भी भौतिक विषयों का अध्ययन करते हैं । अन्य विद्याओं तथा गूढ विद्याओं में कोई सैद्धान्तिक अंतर नहीं । अन्य विद्याओं तथा गूढ विद्या में फर्क केवल इतना ही है, कि अन्य विद्याएं संसार के उन विषयों का अध्ययन करती हैं, जिनका चिंतन अवलोकन तथा प्रयोग करना सामान्य लोगों के लिये संभव होता है तथा **गूढ विद्या उन आंतरिक भौतिक शक्तियों से संबंध रखती है, जिनका चिंतन अवलोकन तथा बौद्धिक विश्लेषण करना सामान्य लोगों के लिये संभवनीय नहीं होता ।** जिस अनुपात में आत्मा की सुप्त शक्तियां जागृत होती हैं, उसी अनुपात में गूढ विद्या का ज्ञान बढता है ।

गूढ विद्या Occultism एक भौतिक शास्त्र है ।

आधुनिक साइकिकल रिसर्च सोसाइटियां (Psychical Research Societies), अर्थात अंतःकरण की गुप्त शक्तियों

का अनुसंधान करनेवाली सभाएं, अन्य विद्याओं की ही भाँति, गूढ विद्या को भी समझती हैं। सिद्धान्तकी दृष्टि से, गूढ विद्या, अन्य भौतिक विद्याओं की अपेक्षा, न तो कम उपयोगी है, और न अधिक उपयोगी। ये सभाएं, सहयोगपूर्वक, एवं संगठित रूप से, गूढ विद्या का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, सूक्ष्म एवं कारण शरीर का अस्तित्व, अंतर्जगत् की विभिन्न भूमिकाएं, विकासवाद के नियम तथा कर्मसंबंधी नियम, इत्यादि कुछ मुख्य गुप्त तथ्यों का, समय समय पर, रहस्योद्घाटन करके, सद्गुरुओं ने भी गूढ विद्या का थोडासा शास्त्रीय ज्ञान, सर्व साधारण लोगों को प्रदान करना, आवश्यक समझा है। ऐसे रहस्योद्घाटन से, आध्यात्मिक आकांक्षा तथा साधना को उचित प्रोत्साहन मिलता है; तथा औसत दर्जे के मनुष्य को भी अनन्त सत्य की शोध करने का उत्साह प्राप्त होता है। किंतु सद्गुरुओं ने गूढ विद्या का तत्वविषयक केवल साधारण ज्ञान का ही उद्घाटन किया है। उन्होंने मानव जाति को गूढ तथ्यों का विस्तृत ज्ञान देना उचित नहीं समझा है। **उन्होंने मानवता के कल्याण को ही ध्यान में रख कर गूढ विद्या के प्रसार को अत्यंत सीमित रखा है।** उन्हों ने केवल सिद्धान्त संबंधी संक्षिप्त ज्ञान ही सर्वसामान्य को विदित होने दिया है। विशेष गुप्त शक्तियों को उन्होंने रहस्य-गर्भित ही रहने दिया है; क्योंकि

गूढ विद्या के प्रसार की सीमाएँ

उनका उपयोगक्षम कलात्मक ज्ञान, सर्वसामान्य को प्राप्त होने पर, मानव जाति का अनिष्ट हो सकता है।

जाननेवाले तथा न जाननेवाले

दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा, गूढ़ा विद्या में, जाननेवाले तथा न जाननेवाले में, महान अंतर है। अन्य विद्याओं का अप्रत्यक्ष ज्ञान, अंशतः उन विद्याओं के प्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान ले सकता है। किंतु गूढ विद्या के सैद्धान्तिक एवं अप्रत्यक्ष ज्ञान के और उसके प्रत्यक्ष ज्ञानके महत्व में महदंतर है। गूढ तत्वों के सैद्धान्तिक ज्ञान का न तो कुछ महत्व और न उसका कुछ उपयोग है। महत्व और उपयोग तो गूढ तत्वों के केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का है। यद्यपि गूढ विद्या एक महत्वपूर्ण शास्त्र है तथापि उसका कोरा सिद्धान्त संबंधी ज्ञान कुछ भी महत्व नहीं रखता। जिन्हें गूढ तथ्यों का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं है, उनका गूढ विद्या का सिद्धान्त संबंधी ज्ञान, ऐसे देशों के वर्णन और समाचार के तुल्य है, जिन्हें उन्होंने अपनी आँखों से कभी नहीं देखा है। गूढ विद्या का सैद्धान्तिक ज्ञान वास्तविक गूढ तथ्यों की निरी कल्पना है।

शास्त्र की हैसियत से, गूढ विद्या अन्य विद्याओं की भाँति ही एक शास्त्र है। किंतु कला की हैसियत से वह निरुपम है। गूढ तथ्यों के सैद्धांतिक ज्ञान के प्रसार से भी कभी कभी अनिष्ट एवं अनर्थ की संभाव्यता रहती है; क्योंकि ऐसे ज्ञान के प्रसार से लोगों की व्यर्थ उत्सुकत

बढ जाती है । गूढ शक्तियें को प्राप्त करना आध्यात्मिकता नहीं है । गूढ शक्तियों को प्राप्त करने तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में महान अंतर है । जिस प्रकार अन्य भौतिक या वैज्ञानिक आविष्कारों का सदुपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार गूढ या गुप्त शक्तियों का भी सदुपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है । गूढ शक्ति की सहायता से, अंतर्जगत् की उच्चतर भूमिकाओं में सहयोगपूर्वक आध्यात्मिक कार्य करने का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो जाता है । किंतु ऐसा सहयोग-पूर्ण आध्यात्मिक कार्य तभी किया जा सकता है जब गूढ शक्तियों का उपयोग, अपने औरों के आध्यात्मिक कल्याण करने के उद्देश्य से किया जाय। कुछ लोग अपने गंभीर आध्यात्मिक उत्तरदायित्व को नहीं समझते; तथा अपनी गुप्त शक्ति का दुरुपयोग करके अपना तथा औरों का महान् अहित करते हैं ।

गूढ विद्या का व्यवहारोपयोगी या कलात्मक ज्ञान

नौसिखुआ साधक गूढ शक्तियों की साधना कर सकता है। और, निश्चित सीमा के भीतर, कुछ शक्तियां प्राप्त भी कर सकता है । नवीन शक्तियों के प्राप्त होने पर, उसे नवीन आध्यात्मिक उत्तरदायित्व भी प्राप्त होता है । यदि वह इस नवीन आध्यात्मिक उत्तरदायित्व का पालन करने के योग्य नहीं है, तो उसकी नवीन गुप्त शक्ति, उसके लिए वरदान न हो कर

गूढ शक्ति का दुरुपयोग

अभिशाप सिद्ध होगी। गूढ शक्ति का जरा भी दुरुपयोग करने से महान घातक परिणाम होता है। और आत्मा का बंधन और भी दृढ हो जाता है। गूढ शक्ति का दुरुपयोग करने से कभी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बिलकुल अवरुद्ध हो जाता है; और उन्नत आध्यात्मिक अवस्था से महान अधःपतन हो जाता है। **गूढ शक्तियों के प्राप्त होने से, साधकों को औरों के ऊपर भयानक विशेषाधिकार मिल जाता है; और वह यदि अपनी शक्तियों का अविचारपूर्वक दुरुपयोग करे, तो वह अपना आध्यात्मिक सर्वनाश तो करता ही है, और साथ ही साथ औरों को भी कुछ कम नुकसान नहीं पहुँचाता।**

आध्यात्मिक ज्ञान-संपन्न गुरु-जनों के हाथों में, गूढ शक्ति सुरक्षित रहती है; तथा वे उसका उपयोग मानव जाति का हित करने के लिए करते हैं। किंतु वे लोग भी उसका अत्यंत परिमित एवं अल्प उपयोग करते हैं। गूढ विद्या के व्यवहारोपयोगी ज्ञान को विस्तृत उपयोगी करने में स्वाभाविक कठिनाइयां हैं। मानव जाति की लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने, तथा उसका भौतिक स्वार्थ पूरा करने में, गुप्त शक्तियों का अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता। **कर्म के नियम, संसार में, समान रूप से और निर्विघ्न तभी चल सकते हैं, जब लोग उसी**

गूढ शक्ति से केवल आध्यात्मिक कल्याण करना चाहिए।

नियम के द्वारा शासित संभावनाओं के भरोसे छोड दिये जाय। कर्म के नियम में हस्तक्षेप करने से, सामान्य मानवीय व्यापार, अनिश्चित, अर्थहीन एवं अस्त-व्यस्त हो जायगा। यही कारण है, कि कारण कार्य सत्ता से शासित विश्व के क्षेत्र में, या कर्म के नियम के अधीन मानव जाति के प्रदेश में किसी अनिश्चित अलौकिक तथा दुर्ज्ञेय तत्व का प्रचार नहीं किया जाता। यही वजह है; कि **गूढ शक्ति का उपयोग, केवल आध्यात्मिक उद्देश की सिद्धि तक, सीमित है।**

संत-गण, कभी-कभी, अपने भक्तों की कुछ सांसारिक इच्छा भी पूरी करते हैं। किंतु सांसारिक विषयों में; उनकी खुदकी रुची नहीं रहती। किंतु दर असल; वे अपने भक्तों को; संसार से विरक्त करना चाहते हैं। उन्हें संसारविमुख करके आध्यात्मिकता की ओर खींचने के ही उद्देश्य से, वे उनके समक्ष सांसारिक प्रलोभन रखते हैं।

सांसारिक लोभ देकर आध्यात्मिकता की ओर खींचना।

छोटे छोटे बच्चे, स्लेट पर लिखे हुए अक्षरों पर ध्यान नहीं जमाते। अक्षरों पर बच्चों का ध्यान खींचने के लिए, उनके मा-बाप उन्हें लोभ देते हैं; और मिठाई से बने हुए अक्षर उनको देते हैं। अक्षरों के लोभ के कारण नहीं, किंतु मिठाई के लोभ के सबब, बच्चों का ध्यान मिठाई के अक्षरों पर तुरंत जम जाता है। ज्योंही बच्चों का ध्यान अक्षरों पर जमने लगता

है; और वे अक्षरों में दिलचस्पी लेने लग जाते हैं, त्योंही मिठाई निकाल बाहर कर दी जाती है। सांसारिक मनुष्य, इसी प्रकार के नन्हे बच्चे हैं। अच्छी बातें सीखने में प्रोत्साहन देने के लिए, जिस प्रकार पिता अपने बच्चों को चॉकलेट देता है, उसी प्रकार, संतगण अपने संसारासक्त भक्तों की कुछ हानि-शून्य सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करके, उन इच्छाओं को छोड़ने तथा सच्ची आध्यात्मिकता को ग्रहण करने का उनका उत्साह बढ़ाते हैं।

संसारी मनुष्य, भौतिक भोग-विलास की तृष्णाओं में, ऐसे डूबे रहते हैं, कि इन तृष्णाओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी नहीं सूझता। संभव है, कि अपनी सांसारिक इच्छा पूर्ण करने का इरादा रख कर, वे संतों के पास जायँ एवं उनकी सेवा तथा सम्मान करें।

सांसारिक इच्छा लेकर संतो के पास नहीं जाना चाहिए।

जब कोई व्यक्ति, किसी संत के पास सम्मान-पूर्वक पहुँचता है, तो संत का यह कर्तव्य हो जाता है, कि सांसारिक इच्छा ले कर आये हुए मनुष्य को भी वह आध्यात्मिक सहायता करे। संत को मनुष्य के मन का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। अतः संभव है, कि संत, उस मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर आसानी से खींचने के इरादे से, उसकी सांसारिक इच्छा पूरी कर दें। किंतु, आध्यात्मिकता की ओर खींचने के उद्देश्य से, भौतिक प्रलोभन देना कोई नियम

नहीं है। यह नियम का एक अपवाद है। ज्यादातर, भौतिक लाभ के लिये आने वाले लोगों को, संत निरुत्साहित करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से संतों को किसी स्वार्थपूर्ण गरज से प्रेम करने की अपेक्षा, उन्हें बिना किसी स्वार्थ के प्रेम करना लाख दर्जे बेहतर है। उन्हें सिर्फ इस लिए प्रेम करना चाहिए कि वे प्रेम करने योग्य हैं। **सच्ची आध्यात्मिक सहायता प्राप्त करने के ही इरादे से, संतों के पास जाना चाहिए। कोई दूसरा इरादा ले कर उनके पास पहुँचना उचित नहीं है।** सच्ची आध्यात्मिक आकांक्षा ले कर, संतों के पास जाने तथा उनका सहवास करने से ही परम कल्याण की प्राप्ति होती है।

गूढ विद्या का कलात्मक औचित्य इस बात में है, कि उसके व्यावहारिक उपयोग से आध्यात्मिक उद्देश्य की सिध्दि होती है। आध्यात्मिक उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से, गूढ शक्ति का उपयोग वस्तुतः उसका दुरुपयोग है। सांसारिक लाभ के लिए, गूढ शक्ति का कदापि अवलंब नहीं करना चाहिये। उसके द्वारा मनुष्य अपनी सांसरिक तृष्णाओं की पूर्ति कर सकता है। किंतु ऐसा करने में उसकी वास्तविक उपादेयता नष्ट हो जाती है। हृदय को पवित्र करने के लिये, उसका उपयोग करने में ही, उसकी वास्तविक उपादेयता है। **मानव जाति की निम्नतर इच्छाओं को दूर करने, तथा उसके हृदय**

मानव जाति की शुद्धि करने के लिए गूढ शक्तियाँ काम में लायी जाती हैं।

को शुद्ध करने के लिए, गूढ़ शक्ति एक महान् एवं अत्यंत प्रभावशाली साधन है।

जो लोग इतनी उन्नति कर चुके हैं, कि उनकी अंतः-करण की प्रसुप्त शक्तियां अब-तब जागृत होने ही वाली हैं, या जिन लोगों की आंतरिक शक्तियां काफी जागृत हो चुकी हैं, किंतु उच्चतर भूमिकाओं में उनकी चेतना के खिंच जाने के कारण, जिन्हें स्थूल संसार का पूर्ण ज्ञान नहीं है, खास ऐसे लोगों के लिए गुप्त शक्तियों का उपयोग करना, अत्यंत आवश्यक एवं उपयुक्त हुआ करता है। ऐसे लोगों के साथ, उसी भाषा में बात करना पडता है, जिस भाषा को वे समझ सकते हैं। बहुत से ऐसे होते हैं, जिन्हें अनेक गुप्त शक्तियां प्राप्त हो चुकी रहती हैं; किंतु उन्हें भी आध्यात्मिक सहायता की उसी प्रकार जरूरत रहती है, जिस प्रकार सामान्य मनुष्य को। चूँकि उन्हें बहुत सी गूढ़ शक्तियां प्राप्त हो चुकी रहती हैं, अतः गुरु जन उनसे दूर रहकर भी, आसानी के साथ एवं प्रभावपूर्ण ढग से उनको सहायता पहुंचा सकते हैं। **उच्चतर भूमिकाओं पर गुरु जनों की ज्ञानपूर्वक सहायता प्राप्त करना, केवल स्थूल माध्यम के द्वारा सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा, अधिक फलदायक होता है।**

गूढ़ शक्तियों के उपयोग के लिए विशेष क्षेत्र।

आध्यात्मिक पथ पर आगे बढना तो कठिन हुआ ही करता है, साथ ही साथ, अत्यधिक साधकों का यह भी लक्षण होता है, कि उच्च भूमिका के आनन्द में, वे इतने मग्न रहते हैं, कि सेवाकार्य के लिए, स्थूल क्षेत्र में उतरना, वे जरा भी पसंद नहीं करते। सिद्ध पुरुषों का, सातवीं भूमिका में पहुंच कर ईश्वर ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात, जो अवतरण होता है, उसमें तथा उन्नत साधकों के नीचे उतरने में, अंतर है। सिद्ध पुरुषों का अवतरण एवं ईश्वरानुभूति के पश्चात, उनका किसी निम्नतर विशेष भूमिका में, कार्य के लिये, स्थित होना प्रारब्ध का परिणाम है। पारमार्थिक हेतु से प्रेरित हो कर, मानव जाति का आध्यात्मिक कल्याण करने के लिए ही, सिद्ध सद्गुरु प्रारब्ध का उपयोग करते हैं; और अवतरित होते हैं। वे, जिस प्रकार की आध्यात्मिक सत्ता से संपन्न होते हैं, उसी के अनुसार वे किसी विशिष्ट भूमिका में स्थित होते हैं। उदाहरणार्थः—मोहम्मद ईश्वरानुभूति के पश्चात् सातवीं भूमिका में, बुद्ध पांचवी भूमिका में, तथा अजमेर के मोएनुद्दीन खिस्ती, पांचवी भूमिका में, क्रमशः स्थित थे।

अवतरण।

जब साधक दो भूमीकाओं के बीच में अटक जाते हैं, तब आध्यात्मिक पथ पर आगे बढने के लिये, उन्हें थोडा पीछे हटना पडता है। दूसरी भाषा में यों कहा जा सकता

है, कि उच्चतर भूमिका में प्रवेश करने के लिए उन्हें निम्नतर भूमिका में उतरना पडता है। उदाहरणार्थ, जब साधक तीसरी भूमिका और चौथी भूमिका के बीच में, फँस जाता है, तब ऐसे साधक को, चौथी भूमिका पर चढाने के लिए सद्गुरु उसे तीसरी भूमिका में उतार देता है। उच्च भूमिका से साधकों का इस प्रकार दूसरों के लिए नीचे उतरना, उन साधारण लोगों के लिए, लाभदायक होता है, जो आध्यात्मिक पथ में प्रविष्ट नहीं हुए रहते ; तथा जो संसार के गहन वन में ही भटकते रहते हैं। **सद्गुरु, कभी कभी, किसी साधक के द्वारा, कोई आध्यात्मिक कार्य कराना चाहते हैं; अतः जिज्ञासु को अपनी वैयक्तिक उन्नति का प्रयत्न स्थगित करने के लिए कहते हैं।** आध्यात्मिक पथ की अगली अवस्था को, शीघ्रता तथा सरलतापूर्वक पार करने के लिए, इस प्रकार नीचे उतरना, मानों एक तैयारी है। यह, मानों, दो कदम पीछे हटने के समान है। इस प्रकार नीचे उतरना, लाभदायक होने पर भी, साधक के लिए, दूसरों की सहायता करने के लिए अपनी उच्च अवस्था से नीचे उतरना, बडा कठिन प्रतीत होता है। पाँचवी भूमिका पर स्थित जिज्ञासु के लिए, नीचे उतरना खास तौर पर कठिन होता है, क्योंकि पांचवी भूमिका पर से, अनंत सत्य दिखई देने लगता है और उसकी ज्योति प्राप्त हो जाती है। सूफी वाद में यह स्थिति हैरत कहलाती है। इस अवस्था में, अनंत की ज्योति को छोड कर, नीचे उतरने में साधक को महान

कठिनाई का अनुभव होता है। किंतु, कभी कभी, अनंत के प्रकाश में डूबने का लोभ-त्याग कर, संसार के अन्य जीवों के उद्धार के लिए; साधक का नीचे उतरना जरूरी हो जाता है। सद्गुरु ऐसे उन्नत साधकों को नीचे लाने के लिए, अपने खास तरीके का उपयोग करता है। सच तो यह है, कि गुरु जनकल्याण के लिए, साधक को किसी भी अप्रिय अवस्था में नीचे उतार सकते हैं।

गंज-ए-शक्कर की कहानी।

अजमेर के सुप्रसिद्ध वली के किस्से से मालूम होगा, कि सद्गुरु किस प्रकार अपने उच्च स्थित शिष्य को नीचे लाता है। अजमेर में इस वली की समाधि अभी तक है, जो एक विख्यात तीर्थस्थान है। इस वली की आँखें चौंधिया गई थीं। वे निर्विशेष विस्फारित तथा स्फटिक तुल्य दिखाई देती थीं। उसकी आँखे हमेशा खुली रहती थीं। वह अपनी आँखे बंद नहीं कर सकता था। उसे खाने पीने की सुध नहीं थी, पांचवी भूमिका में था। अजमेर का ख्वाजा इस वली का गुरु था। गुरु अपने शिष्य को नीचे उतारना चाहता था। वली के लिए अपने गुरु की आज्ञा मानना कठिन था। इस पर गुरु को चाबी ऐंठनी पडी। निम्नलिखित तरीके से गुरु ने शिष्य के होश दुरुस्त किये। उन्होंने पांच चोरों को, इस वली के निवास-स्थान में आने के लिए, प्रेरित किया। पांचों चोर वली से पांच कदम दूर बैठ गये। और वे अपनी

चोरी का माल बाँटने लगे। तुरँत ही उनमें झगडा होने लगा। दो चोरों ने शेष तीन चोरों को जान से मार डाला। इन दोनों ने, लूट के माल को आपस में बाँट लिया, और भाग गये। भागते समय, वे वली के निवासस्थान के पास ही निकले। ज्योंही वे वली के निवासस्थान के अत्यंत पास आये, त्योंही वली को साधारण चेतना प्राप्त हुई। इन दुष्टों का सान्निध्य, वली को होश में लाने के लिए, काफी था। चोरों के दुष्ट संस्कार से प्रभावित हो कर, वली होश में आया, और उसे दुनिया का ज्ञान हुआ, तब उसे सर्वप्रथम कुछ गौरेये दिखाई दिये। अपनी जागृत शक्तिओं को आजमाने की उसकी प्रवृत्ति हुई। उसने कहा, "औ गौरेयो, मर जाओ"। गौरेयो नीचे गिरे, और मर गये। फिर वह बोला, "गौरेयो उठ जाओ"। गौरेये जी उठे। दोनों चोर, वली का यह चमत्कार देख कर, विस्मित हुए। उन्होंने वली से उन तीन चोरों को भी जिन्दा करने की प्रार्थना की, जिनको उन्होंने गुस्से में आ कर मार डाला था। इस पर वली ने उन तीन मुर्दे चोरों को लक्ष्य करके कहा, "जी उठो"। किंतु वे जीवित नहीं हुए। वली के आश्चर्य की सीमा न रही। उसे ऐसा लगा, कि उ ा शक्तियां नष्ट हो गयीं। अपनी शक्ति का निरर्थक उपयोग करने के कारण, उसे महान पश्चात्ताप हुआ; और वह रोता हुआ अपने गुरु के पास पहुँचा। जब वह गुरु के पास पहुँचा, तो उसने देखा, कि वे तीनों चोर गुरु के पैरों की मालिश कर रहे हैं। यह देख कर, वली

अपने निवासस्थान को वापिस लौट गया। खाने पीने की उसने परवाह न की। वह बहुत दुबला हो गया। वह दस वर्षों तक उसी स्थान पर पडा रहा। उस पर सफेद चीटियाँ झूमने लगीं। और उसके शरीर को खाने लगीं। लोग वली के पास शक्कर लाया करते थे जिसे चींटियां खाती थीं। वली का शरीर शक्कर के ढेर से घिर गया था, अतः वह गंज-ए-शक्कर (शक्कर का खजाना) के नाम से विख्यात हुआ। इस कहानी से यह विदित होता है, कि उन्नत साधकों को भी, आध्यात्मिक पथ पर आगे बढने के लिए सद्गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है।

गंज-ए-शक्कर की कथा से विदित होता है, कि कैसे प्रसंगों पर गूढ शक्तियों और गूढ तरीकों का उपयोग किया जाता है। किंतु यह जान लेना आवश्यक है, कि किसी भी गूढ दृश्य और गूढ शक्ति का कोई वास्तविक निजी महत्व (Intrinsic value) नहीं है। **गूढ या अगूढ घटनाओं का महत्व या तो पूर्णतः भ्रमिक होता है या सापेक्ष।** जब किसी वस्तु को मिथ्या महत्व दिया जाता है, तब वह भ्रामक मूल्य धारण कर लेती है, क्योंकि वह वस्तु, अज्ञानजन्य सीमित उद्देश्यों या चंचल तृष्णाओं को, उत्तेजित करती है; या उनकी पूर्ति करती हुई सी दिखाई देती है। इन सीमित उद्देश्यों और चंचल तृष्णाओं को अलग करके

गूढ चमत्कारपूर्ण घटनाओं का निजी महत्व कुछ भी नहीं है।

यदि इन गुप्त चमत्कारपूर्ण दृश्यों या शक्तियों को देखा जाय तो उनपर आरोपित समस्त महत्व तथा अर्थ नष्ट हो जाता है। सत्य की अभिव्यक्ति या सत्य की अनुभूति की पूर्ति के लिये, कोई साधनस्वरूप वस्तु या अद्‌भुत घटना, (Phenomenon) जब महत्व प्राप्त करलेती है, तब सापेक्ष मूल्य का उदय होता है। अद्‌भुत चमत्कारों को महत्व तब प्राप्त होता है, जब वे दैवी लीला के ही आधारभूत होते हैं। दैवी लीला के साधन होने के नाते, सापेक्ष होने पर भी, वे अर्थपूर्ण रहते हैं।

अज्ञानपूर्वक या सज्ञानपूर्वक, अनेक मनुष्य, गूढ चमत्कारों को अनावश्यक महत्व देते हैं। गूढ चमत्कारों को ही वे आध्यात्मिकता समझने की भूल करते हैं। उनके लिए चमत्कार तथा भूत प्रेत के दृश्य ही अत्यंत दिलचस्प विषय हैं। चमत्कारों और भूतप्रेतों में दिलचस्पी रखने वाले, आध्यात्मिक विषयों में दिलचस्पी रखने वाले लोग समझे जाते हैं। किंतु, **गूढ विद्या** (Occultism) **तथा रहस्यवाद**, (Mysticism) **एवं भूतशास्त्र** (Spiritualism) **तथा आध्यात्मिकता** (Spirituality) **में महान अंतर है**। रहस्यवाद या आध्यात्मिकता को साध्य समझना चाहिए, तथा गूढ विद्या को एक भौतिक साधन। गूढ विद्या और आध्यात्मिकता का भेद नहीं समझने से, जटिलताएँ पैदा होती हैं।

गूढ विद्या एवं आध्यात्मिकता में अंतर है।

सभी किस्म के चमत्कार, दृश्य भौतिक संसार से, संबंध रखते हैं। और, भौतिक संसार भ्रम या प्रपंच है। मिथ्या दृश्य (Phenomena) होने के कारण, वे परिवर्तन के अधीन हैं; और कोई भी परिवर्तनशील वस्तु या घटना स्थायी महत्व नहीं रख सकती। अनन्त वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही परम सत्य को जानना है। गूढ जगत् का ज्ञान, या गूढ शक्तियों के संचालन का वह महत्व और मूल्य नहीं है, जो महत्व और मूल्य, ईश्वरानुभूति का है। स्थूल संसार के अन्य दृश्य, जिस प्रकार, मिथ्या और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार, गूढ शक्ति के चमत्कार भी, मिथ्या और काल्पनिक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से, मुख्य बात, केवल दैवी जीवन स्वयं प्राप्त करना है तथा अन्य लोगों को, दैवी जीवन प्राप्त करने में, सहायता करना है। दिव्य जीवन को प्राप्त करके, प्रतिदिन के कार्यों में उसे व्यक्त करना ही सबसे महत्वपूर्ण बात है।

असली महत्वों का विषय

सर्व श्रेष्ठ सत्ता, एवं परम सत्य के सार और महात्म्य में प्रवेश करना, और इस आंतरिक महिमा की श्री और सुरभी को, अन्य मनुष्यों के कल्याण एवं पथ-प्रदर्शन के लिए, व्यक्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। नाम-रूप-मय संसार में, सत्य, शिव, सौंदर्य तथा पवित्रता को अभिव्यक्त करना ही यथार्थ जीवन है, और इसी का अक्षय महत्व है। अन्यान्य घटनाओं, दृश्यों एवं सिद्धियों का स्वयमेव कोई स्थायी महत्व नहीं है।

सात मुख्य तत्व

अस्तित्व, प्रेम, आत्मसमर्पण त्याग, ज्ञान, संयम और शरणागति।

(१) **सच्चा अस्तित्व** केवल परमात्मा का ही है, जो आत्मरूप से भूतों में व्याप्त है।

(२) **सच्चा प्रेम** वही है जो इस अनंत तत्वपर स्थित है! इस प्रेम से परमात्मारूपी सत्य देखने की, अनुभव करने की, और उसीसे एकरूप होने की तीव्र आकांक्षा जागृत होती है।

(३) **सच्चा आत्मसमर्पण** वही है जो इस प्रेम से प्रेरित होकर सर्वस्व-तन, मन, पद, स्वार्थ और प्राण भी होम देता है।

(४) **सच्चा त्याग** वही है जो संसार के अनेक कर्तव्य-पालन करते हुए भी स्वार्थमयी भावनायें और वासनायें छोड देता है।

(५) **सच्चा ज्ञान** वही है जो भले और तथाकथित बुरे, संत और तथाकथित पापी जनों में परमात्मा को ही अंतर्यामी देखता है। यह ज्ञान सब को समानभाव से

परिस्थिति के अनुरूप निष्काम सहायता करने का आदेश देता है। और अनिच्छा से यदि किसी को झगडे में शरीक होना पडे तो वह बताता है कि अपना कर्तव्य निबाहते हुए निर्वैर और द्वेषरहित रहो; दूसरों के प्रति बन्धुभाव और भगिनीभाव रखते हुए सबको आनंद पहुंचाओ; और मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को नुकसान मत पहुंचाओ; उन्हें भी नहीं जो तुम्हारा नुकसान करते हैं।

(६) **सच्चा संयम** वही है जो नीच वासनाओं से निवृत्त होकर जितेंद्रिय हो। इस संयम के बिना शील पूर्णरूप से निर्लिप्त नहीं रह सकता।

(७) **सच्ची शरणागति** वही है जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी मन के संतुलन को अस्थिर नहीं होने देती, और सब प्रकार के संकटों में ईश्वर की इच्छा को ही पूर्ण शांति से स्वीकार करती है।

नोट—श्री मेहरबाबा के उपदेशों में पन्थ, कट्टर मतमतान्तर, जातिव्यवस्था, और कर्मकाण्ड का कोई भी महत्त्व नहीं है, केवल इन सात महान तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान को ही वे प्रधानता देते हैं।

—प्रकाशन समिति।

ध्यान के प्रकार

(भाग १)

ध्यान का स्वरूप और उसकी आवश्यकताएं

मन की सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए व्यक्ति जो पथ निर्माण करता है, वह पथ ही ध्यान है।

मान लो, कि एक मनुष्य किसी सघन वन में फँस गया है, और वह वहां से निकल कर, खुले मैदान में आना चाहता है। अपने चारों ओर की जटिल झाड़ियों के बीच से, जब वह बाहर निकलेगा, तो वह अपने पीछे अपना पथ-चिन्ह छोड़ जायगा। कोई भी दर्शक, इन पथ-चिन्हों को देख कर, यह जान जायगा, कि वह किस मार्ग को अवलंबन करके जंगल के बाहर निकला है। जंगल में फँसे हुए आदमी की यात्रा तथा रेलवे एंजिन की यात्रा में फर्क है। जंगल में फँसे हुए आदमी का पूर्वनिर्मित पथ नहीं रहता; वह स्वयं अपना मार्ग तैयार करता है। किंतु रेल गाडी पूर्व निर्मित रेल-पथ पर यात्रा करती है। रेल गाडी का रास्ता, यात्रा के पहले ही तैयार रहता है। किंतु, उस आदमी का मार्ग, उसकी यात्रा करने के पश्चात बनता है। ठीक इसी

जिस पथ के द्वारा व्यक्ति मन की सीमाओं को लाँघता है वह पथ ध्यान है।

प्रकार, मन की सीमाओं के भीतर फँसे हुए आदमी का पूर्व-निश्चित पथ नहीं होता; किंतु **यात्रा के बाद वह पंथ निर्माण होता है।** मन के गहन वन से निकलने के लिए, जब वह गंभीर विचार एवं ध्यान करता है, तब वह जंगल में फँसे हुए आदमी के ही समान, अपनी जटिल सीमाओं को पार करने का प्रयत्न करता है; और इस प्रकार, वह स्वयं अपना मार्ग तैयार करने की कोशिश करता है। वह, किसी ऐसे पथ का अनुसरण नहीं करता, जो उसके मानस प्रदेश में पहले से ही, बनाया तैयार रहता है।

ध्यान के सामान्य मार्गों का पूर्व ज्ञान हो सकता है।

जिस मनुष्य को, भूगर्भ के घनीभूत बाह्यावरण की रचना का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त है, वे प्रायः पहले से, यह बतला सकता है, कि ज्वालामुखी किस जगह फूटेगा। ठीक इसी भाँति, जिस मनुष्य को, व्यक्ति के मन की रचना के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष आंतरिक ज्ञान प्राप्त है, वह, पहले से ही, उसके ध्यान के विकासक्रम को जान सकता है। जब भूगर्भ की प्रचंड शक्तियाँ फूट निकलने की चेष्टा करती हैं, तो वे सबसे अधिक सुविधाजनक मार्ग ढूंढती हैं। यह मार्ग, पृथ्वी की उन अन्य आभ्यंतर परिस्थितियों पर अवलंबित रहता है, जिनका सामना करके, उन शक्तियों का विस्फोट होता है, और वे बाहर उमड आती हैं। ज्वालामुखी की शक्तियों, तथा आध्यात्मिक

आकांक्षा की शक्तियों में भेद केवल इतना ही है, कि वे अचेतन होती हैं, और ये चेतन होती हैं। **ध्यान में विवेक का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। सद्गुरु जब साधक को ध्यानसंबंधी कुछ पूर्व सूचनाएं एवं संकेत देता है, तो वह साधक के विवेक का जागृत करता है या उसकी चेतना को उद्दीप्त करता है।**

ध्यान के संबंध में कई लोगों की भ्रांत धारणा है। वे समझते हैं, मन को किसी वस्तु या विचार पर जबरन लगाने का नाम ध्यान है। बहुतेरे मनुष्यों में, ध्यान के प्रति, स्वाभाविक अरुचि या विरक्ति उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि मन को किसी खास दिशा में जबरदस्ती मोड़ने, या किसी खास वस्तु पर बलपूर्वक लगाने में, उन्हें कठिनाई का अनुभव होता है। **मन के बलपूर्वक दमन, या यंत्रतुल्य नियंत्रण का क्लेशदायक होने के साथ ही असफल होना अवश्यंभावी है।**

विवेक-पूर्ण ध्यान आनंददायक होता है।

अतः साधकों को, यह प्रथम सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिए, कि मन की रचना के जो आंतरिक नियम हैं, उन्हीं नियमों के अनुसार, मन का नियमन किया जा सकता है; तथा, उसे ध्यान में लगाया जा सकता है। जोर जबरदस्ती के साथ, बलपूर्वक मन का यंत्र-तुल्य नियंत्रण का क्लेशबाधक होने के साथ ही असंभव है।

बहुत से लोग, ध्यान विधि के अनुसार, तथाकथित ध्यान यद्यपि नहीं करते, तो भी वे बहुधा किसी व्यावहारिक समस्या, या सैद्धान्तिक विषय के व्यवस्थित एवं स्पष्ट चिंतन में, गंभीरतापूर्वक अनन्य भाव से निमग्न रहते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक क्रिया, एक प्रकार से, ध्यान करने में ही, लगी रहती है, क्योंकि, अन्य समस्त वस्तुओं का पूर्ण विस्मरण एवं किसी खास विषय का अनन्यमनस्क-चिंतन या तीव्र स्मरण ही ध्यान है। जिन विषयों में रुचि रहती है, तथा जो बातें अधिकाधिक समझ में आती हैं उन विषयों में मन सहज ही लग जाता है एवं उन बातों का ध्यान करना स्वाभाविक होता है। किंतु ऐसे सामान्य मननचिंतन तथा ध्यान के संबंध में दुःखद बात यह है: कि सार विषयों तथा आध्यात्मिक महत्व की बातों पर मन नहीं लगाया जाता। ध्यान के विषय को सावधानी के साथ चुनने की आवश्यकता है। यह विषय आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होना चाहिए। ध्यान का विषय, या तो देवा व्यक्ति, या दिव्य विषय होना चाहिए; या कोई महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तथ्य या सत्य। आध्यात्मिक तथ्यों और सत्यों में दिलचस्पी रखने से ही ध्यान में सफलता की प्राप्ति नहीं होगी, किंतु उनको समझने एवं उनके स्वरूप को ग्रहण करने की कोशिश करने से ही ध्यान में सफलता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार का विवेक मूलक ध्यान मन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आध्यात्मिक तथ्यों और तत्वों में रस लेने और उनको समझने एवं उनके स्वरूप को हृदयंगम करने से

न तो मन पर और जबरदस्ती करनी पडती, और न कठोरता-पूर्वक मन पर बलात्कार ही किया जाता है। सहज और सरस ध्यान आनन्ददायक तथा यंत्र तुल्य ध्यान क्लेशकारक होता है। **रुचि के साथ विवेकपूर्वक जो चिन्तन किया जाता है वह सहज और स्फूर्तिदायक ही नहीं होता किंतु सरल तथा सफल भी होता है।**

चिन्तन तथा एकाग्रता

चिंतन स्वरूप ध्यान एकाग्रता से भिन्न है। चिन्तन प्राथमिक स्थिति है। चिन्तन क्रमशः विकसित होकर, एकाग्रता का रूप धारण कर लेता है। अन्य प्रत्येक वस्तुओं को भूल कर, किसी विशिष्ट वस्तु का चिंतन, ध्यान है। विशिष्ट वस्तु का अनन्य मन से, चिंतन करने पर, मन का उस वस्तु से एकाकार या युक्त हो जाना, एकाग्रता है। एकाग्रता में, मन स्थिर हो जाता है, किंतु चिन्तन-युक्त ध्यान में, एक प्रस्तुत विषय के बीच में, मन चलायमान होता रहता है। एकाग्रता में, मन किसी एक रूप, या किसी संक्षिप्त सारगर्भित सूत्र पर, केंद्रित हो जाता है। एकाग्रता में, मन चिंत्य विषय का विस्तृत वर्णन नहीं करता; किंतु ध्यान में मन उस रूप, या उस सूत्र के विभिन्न गुणों, एवं विभिन्न अर्थों का चिंतन करके, उन्हें समझने तथा हृदयंगम करने का प्रयत्न करता है। किंतु ध्यान तथा एकाग्रता दोनों में चिंत्य दिव्य विषय, या सिद्धान्त के प्रति प्रेम, और उत्कंठा का शांतिमय मिश्रण होता रहता है। यंत्रतुल्य मानसिक क्रिया में कठोर

नियमबंधन, तथा नीरस एवं अरुचिजनक दमन के द्वारा, मन नियंत्रण किया जाता है। बाह्य नियमबंधनों के द्वारा, तथा कठोर विधि–निषेधों के द्वारा, मन पर बलपूर्वक शासन यंत्रवत् क्रिया है।

जो लोग एकदम तीव्र एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें, शुरु शुरु में चिन्तनयुक्त ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जो चित्त को एकदम एकाग्र कर सकते हैं, उनके लिए चिन्तन अनावश्यक है। उनके लिए परमात्म–पुरुष के रूप पर, या **"मैं न तो स्थूल शरीर हूं, न सूक्ष्म शरीर हूं** [सूक्ष्म शरीर तृष्णाओं तथा प्राण शक्तिओं का निवासस्थान है और मानसिक शरीर (कारण शरीर) मन का निवासस्थान है] **किंतु मैं आत्मा हूं"** जैसे किसी संक्षिप्त सूत्र पर चित्त को एकाग्र करना पर्याप्त है।

ध्यान वस्तुतः एक व्यक्तिगत विषय है; क्योंकि समाज में आत्मप्रदर्शन करने के लिए, ध्यान नहीं किया जाता, किंतु अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति के लिए, ही ध्यान किया जाता है। सामाजिक वातावरण से, व्यक्ति के पूर्णतः अलग हो जाने से, ध्यान, बिना किसी विघ्न, या बाधा के संपन्न होता है। निर्जनता की खोज में, प्राचीन योगी पर्वतों और गुफाओं में चले

ध्यान में मौन एवं एकांत सहायक होते हैं।

जाया करते थे। ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए शांत तथा एकांत वातावरण में नितान्त आवश्यक है। और, पर्वतों तथा गुफाओं में, ऐसी निर्जन शांति आसानी से प्राप्त हो जाती है। तथापि निर्जनता एवं सूनापन खोजने के लिए पर्वतों और गुफाओं में ही जाना जरूरी नहीं है। जरासा कष्ट करने पर तथा सावधानी रखने से साधकों को शहरों में भी मौन एकांत तथा सूनापन की प्राप्ति हो सकती है। मौन, एकांत तथा शांत वातावरण के बिना विभिन्न प्रकार के ध्यान में उन्नति नहीं की जा सकती।

अंधकार का महत्व।

ध्यान के लिए अंधकार का होना, या आखों का मूंदना अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। साधक के सन्मुख ध्यान के विषय के उपस्थित रहने पर, आंखें खुली रख कर भी वह सफलतापूर्वक ध्यान कर सकता है। किंतु, कई लोगों के लिए सभी प्रकार के स्थूल दृश्यों से दूर हो जाना, तीव्र ध्यान के लिए, उतना ही लाभदायक है, जिस प्रकार सभी किस्म के शोर-गुल या आवाज से दूर हो जाना। वातावरण की पूर्ण शांति प्राप्त करने के लिए, ध्यान को उपयुक्त स्थान, सावधानी के साथ चुनना चाहिए। किंतु, दृश्यों के उपद्रव से, मन को प्रभावित न होने देने के लिए, केवल आंखों को मूंद लेना पर्याप्त है। कभी कभी प्रकाश के रहने से, दृष्टि पर प्रकाश का प्रभाव पडता है। प्रकाश के द्वारा, आंखों पर पडनेवाली उत्तेजना को

दूर करने के लिए, बिलकुल अंधकार में ध्यान करना आवश्यक है। अंधकार में ध्यान करने से, ध्यान में उन्नति करना सरल हो जाता है।

ध्यान के लिए आसन

उपयुक्त आसन ध्यान में सहायक होता है; किंतु आसन के लिए, कोई निश्चित नियम नहीं है। आरोग्य की दृष्टि से, जो आसन आपत्ति रहित है, तथा जो आसन आरामदायक है, वही आसन ग्रहण करना चाहिए। उस आसन का आश्रय नहीं चाहिए, जिससे नींद लगने की संभावना हो। जिस आसन से मन जागरूक रहे, वह आसन सर्व श्रेष्ठ है। ऐसा आसन ग्रहण करना ठीक नहीं है, जिससे शारिरिक कष्ट या परिश्रम का अनुभव हो, क्योंकि वैसा करने से, मन का ध्यान शरीर की ओर खिंचेगा। नींद लेते समय, जिस प्रकार, शरीर को आराम (relaxation) दे दिया जाता है, उसी प्रकार, ध्यान के समय भी, शरीर को आरामपूर्ण तथा कष्टरहित आसन में रखना चाहिए। किंतु सोने का सामान्य आसन, ध्यान के लिए, ठीक नहीं है; क्योंकि उस आसन में नींद आने की संभावना है। ज्योंही शरीर सुविधाजनक एवं उपयुक्त आसन ग्रहण कर ले, त्योंही सिर पर तुरंत ध्यान फेरना चाहिए। सिर को शरीर का केंद्र स्थल समझना चाहिए। सिर को केंद्र मानने से, शरीर को भूलना, तथा शरीर से मन को खींच कर उसे ध्यान के विषय पर लगाना आसान हो जाता है।

साधक को चाहिए, कि वह प्रत्येक ध्यान में वही आसन ग्रहण करे, जो आसन एक बार अपना लिया है। जिस आसन में, एक बार ध्यान किया जाता है, उस आसन का, पहले के ध्यान से संबंध स्थापित हो जाता है। वही आसन ग्रहण करने से, पहले जैसा ध्यान करने का विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जब शरीर, पहले का चुना हुआ आसन ग्रहण करता है, तब उपचेतन (Subconscious) मन को यह संकेत प्राप्त करने में सुविधा मिलती है, कि उसे अब पूर्ववत ध्यान में लगना है। एक ही आसन ग्रहण करना, उस आसन से संबद्ध ध्यान का सहज आव्हान करना है। ताकि आसन ग्रहण करते ही, मन, ध्यान के लिए, सहज ही सन्नद्ध हो जाता है। एक ही आसन चुनना, जिस प्रकार लाभदायक होता है, उसी प्रकार, एक स्थान तथा एक समय निश्चित कर लेना भी अत्यंत लाभदायक होता है। आसन, स्थान, तथा समय का पहले किये गये ध्यान से संसर्ग रहता है,। और, उसी आसन, स्थान, तथा समय को अपनाने से, ध्यान तुरंत सधता है। अतएव, ध्यान करने के लिए, एक ही आसन, एक ही स्थान तथा एक ही समय निश्चित करने में, साधक का विशेष आग्रह रहना चाहिए। जिस स्थान, तथा जिस भूमि में, सद्गुरु ने ध्यान या निवास किया हो, उस स्थान तथा उसी भूमि में, ध्यान करना विशेष लाभदायक होता है; क्योंकि ऐसे स्थान, तथ

ध्यान का स्थान, आसन तथा समय निश्चित करने का महत्व।

ऐसी भूमि का गूढ संसर्गों तथा गूढ संभाव्यताओं से पूर्वसंबंध रहता है।

ध्यान के स्थान, आसन, तथा समय सभी का सापेक्ष महत्व है। व्यक्ति की विशेषताओं, तथा जीवन–इतिहास के अनुसार, वे भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। अतः, सद्गुरु प्रत्येक शिष्य को, उसकी व्यक्तिगत आवश्यकता एवं योग्यता के अनुसार; भिन्न–भिन्न आदेश देता है। हाँ, ध्यान, जिन लोगों के लिए लगातार अभ्यास के सबब से स्वाभाविक हो गया है, उनके लिये, एक ही स्थान, एक ही आसन, तथा एक ही समय की कोई जरूरत नहीं है। ऐसे साधक किसी भी समय, किसी भी परिस्थिति में ध्यान कर सकते हैं। चलते चलते भी, वे ध्यानमग्न रह सकते हैं।

एरंडी का तेल जैसे भारी दिल से पिया जाता है, वैसा भारी दिल लेकर, ध्यान नहीं करना चाहिये। गंभीरता के साथ, ध्यान करना जरूरी है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि साधक को मनहूसी मुहर्रमी सूरत धारण करनी चाहिये। श्मशान की तरह शोकपूर्ण होना भी साधक के लिए शोभा की बात नहीं है। विनोद-भाव तथा उल्लासवृत्ति धारण करने में, ध्यान सरल हो जाता है। ध्यान अरुचिकर तथा पीडादायक कार्य बनाना ठीक

ध्यान आनन्ददायक साहसकार्य के सदृश होनाचाहिए।

नहीं है। **ध्यान के सफल होने पर, जो स्वाभाविक आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द में प्रवृत्त होने में, कोई हानि नहीं।** हाँ, उसकी लत नहीं पडनी चाहिए। ध्यान को उच्च भूमिकाओं की सुखद सैर समझनी चाहिये। **सुंदर प्राकृतिक दृश्यों की ही भाँति, ध्यान करने से भी उत्साह, साहस, शान्ति तथा उल्हास की प्राप्ति होती है।** ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए, सभी प्रकार की उदासी, एवं चिंता का पूर्ण परित्याग कर देना जरूरी है।

सामूहिक ध्यान।

यद्यपि ध्यान वस्तुतः एक व्यक्तिगत विषय है, तथापि सामूहिक ध्यान भी कुछ कम लाभदायक नहीं है। जिन साधकों का आपस में प्रेम है, यदि वे सामूहिक रूप से, एक ही प्रकार का ध्यान करें, तो उनके विचार एक दूसरों के विचार को प्रोत्साहन और बल प्रदान करते हैं। जब एक ही सद्गुरु के शिष्य अपने गुरु पर सामूहिक ध्यान करते हैं, तब खास कर ऐसा होता है। सामूहिक ध्यान में भाग लेने वाले प्रत्येक साधक को चाहिए, कि वह अपने ही ध्येयविषय का चिंतन करे। उसी समूह में, उसके अन्य साथी क्या कर रहे हैं, इसका चिंतन उसे न करना चाहिए। इसी सामूहिक ध्यान का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सकता हैं। साधक, समूह में ध्यान शुरु करे, किंतु, वह समूह के बारे में बिलकुल भूल जाय, तथा अपने ध्येय-विषय में निमग्न हो जाय। उसे सारे संसार को, तथा स्वयं

अपने शरीर को, पूर्णतः भूल जाना चाहिए। ध्यान के पूर्व जो ध्येयविषय सब ने चुना था, प्रत्येक को, उसी विषय में, सब कुछ भूल कर, अनन्य भाव से; तल्लीन हो जाना चाहिए। यद्यपि उन्नत साधक स्वयं अकेले ध्यान करें, तथापि, ठीक से यदि किया जाय, तो सामूहिक ध्यान, नये अभ्यासी के लिए, विशेष लाभदायक सिद्ध होता है।

असंबद्ध विचारों का उपद्रव

साधारण विचार करने के समय, आवश्यक तथा सुसंबद्ध विचारक्रम का निर्विघ्न आगमन एक मामूली बात है। किंतु **व्यवस्थित ध्यान करने के लिए, जब मन सन्नद्ध होता है, तब अनेक अनावश्यक तथा असंबद्ध और विरुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं, और उपद्रव मचाते हैं। यह प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति मन का नियम है।** जब ऐसे अप्रिय एवं प्रतिकूल विचार, जो कभी नहीं उठते थे, उत्पन्न हों, तो साधक को उद्विग्न नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार, जादूगर तरह तरह की अप्रत्याशित तथा अद्भुत वस्तु पैदा करता जाता है, उसी प्रकार, ध्यानक्रम भी, विभिन्न क्षुद्र मिथ्या एवं अवांछनीय विचारों को **उपचेतन मन से चेतना में लाता है।** साधक को ऐसे उपद्रवी विचारों की अपेक्षा ही करना चाहिए; तथा उनके लिए उसे तैयार रहना चाहिए। साधक को उन्नत ध्येय धारण करना चाहिए। और उस निश्चित आत्मविश्वास होना चाहिए कि अंततः वह इन उपद्रवों पर विजय प्राप्त करेगा।

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये, अंतिम किंतु महत्वपूर्ण आवश्यकता है, अप्रिय तथा उपद्रवी विचारों से निपटने की ठीक रीति अख्त्यार करना । अवांछनीय विचारों से प्रत्यक्षतः युद्ध करके तथा उनका मुकाबला करके, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना मानासिक शक्ति व्यर्थ नष्ट करना है । ऐसा प्रयत्न करना, उन अप्रिय तथा अवांछनीय विचारों को ध्यान और महत्व देना है । ऐसे असंबद्ध विचारों का निग्रह करने के लिये, उनको जो ध्यान और महत्व मिलता है, उस ध्यान और महत्व की वजह, वे पोषित और बलिष्ट हो जाते हैं । उनसे निपटने की सर्वोत्तम रीति है, उनकी उपेक्षा करना, और उनपर लेश मात्र भी ध्यान दिये बिना, शीघ्रातिशीघ्र ध्येय विषय की ओर ध्यान को लगा देना । **असंबद्ध विचारों को अनुचित महत्व देने से और भी प्रोत्साहन मिलता है । उपद्रवी विचारों की अनावश्यकता तथा सारशून्यता, एवं ध्येय विषय का सापेक्ष सार तथा महत्व को स्वीकार करने से, उपद्रवी विचार स्वयमेव अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।** उन पर ध्यान न देना, या उनकी उपेक्षा करना, उन्हें मौत के मुंह में डालना है; तथा मन को ध्यान के विषय पर केंद्रित और स्थिर करना है ।

उपद्रवी तथा अप्रिय विचारों से निपटने की रीति ।

ध्यान के प्रकार

भाग २

ध्यान के मुख्य प्रकार तथा उनका सापेक्ष महत्व

ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं। सुविधा के लिए, ध्यान के मुख्य प्रकार, **तीन स्पष्ट तत्वों** के आधार पर, एक दूसरे से विभक्त किये जा सकते हैं। **आध्यात्मिक उन्नति करने में, वे जो कार्य करते हैं,** उसके आधार पर, वे श्रेणी-बद्ध किये जा सकते हैं, या, **ध्यानावस्था में व्यक्तित्व का जो भाग प्राधान्य को प्राप्त होता है,** उसके आधार पर वे श्रेणी–बद्ध किये जा सकते हैं। या, **व्यक्ति अनुभव के जिन विषयों को समझने का प्रयत्न करता है,** उनके आधार पर, वे श्रेणी–बद्ध किये जा सकते हैं। ध्यान के मुख्य प्रकारों को श्रेणीबद्ध करने के लिए, इन तीन तत्वों में से, किसी एक तत्व का आधार लिया जा सकता है। ध्यान के विभिन्न रूपों का सविस्तर वर्णन करने के लिए, तीसरे तत्व की, बाद में चर्चा की जायगी। क्योंकि, ध्येय विषयों की गणना करने, या संख्या निश्चित करने में,

ध्यान के प्रकार तीन तत्वों के अनुसार श्रेणी-बद्ध किये जा सकते हैं।

तीसरा तत्व सहायक होता है। इस भाग में प्रथम दो तत्वों का ही उपयोग किया जायगा, क्योंकि ध्यान के विभिन्न रूपों का पारस्परिक संबंध, एवं उनका सापेक्ष महत्व समझने में इन दोनों तत्वों से सहायता मिलती है।

प्रथम तत्व के अनुसार, ध्यान दो प्रकार का हो सकता है:—

संयोगकारक ध्यान तथा वियोगकारक ध्यान।

(१) संयोग कारक (Associative) तथा (२) वियोग-कारक (Dissociative)। अनन्त सत्य से चेतना को संयुक्त करने के लिए, संयोगकारक ध्यान की आवश्यकता होती है। तथा विश्वप्रपंच की मिथ्या एवं सार-शून्य वस्तुओं से चेतना को वियुक्त करने के लिए वियोग-कारक ध्यान की जरूरत पडती है। ध्यान की क्रियापद्धति के अनुसार, ध्यान के दो प्रकार होते हैं। संयोगकारक ध्यान में मन की समन्वय (Synthesis) की क्रिया प्रधानता को प्राप्त होती है; तथा वियोगकारक ध्यान में मन की व्यतिरेक (Analytic) की क्रिया प्रधान रहती है। "मैं अनंत हूं," इस प्रकार का ध्यान संयोगकारक ध्यान है। "मैं मन या देह नहीं हूं", इस प्रकार का ध्यान वियोगकारक ध्यान है।

साधक जिस आध्यात्मिक आदर्श का अपने मन में सृजन करता है, उस आदर्श से, संयोगकारक

ध्यान के द्वारा युक्त होने को, वह चेष्टा करता है; तथा वियोगकारक ध्यान के द्वारा, अध्यात्म-विरोधी सीमाओं से संबंध विच्छेद करने का प्रयत्न करता है । संयोगकारक ध्यान आध्यात्मिक सारों को ग्रहण करने की प्रक्रिया है; तथा वियोगकारक ध्यान आत्मविरोधी असार वस्तुओं को त्यागने की प्रक्रिया है ।

संयोगकारक ध्यान तथा वियोग-कारक ध्यान की क्रियापद्धतियां ।

संयोगकारक ध्यान का उन वस्तुओं से संबंध है, जो ज्योति के जगत से चुनी जाती हैं । तथा वियोगकारक ध्यान का उन पदार्थों से संबंध है, जो छायामय संसार के ही भाग होते हैं । भ्रममय संसार का वैसा ही मुग्ध-कारी आकर्षण होता है, जैसा छाया-संसार का होता है । यदि कोई मनुष्य, भ्रममय संसार से निकल कर, सत्य को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे, जगत प्रपंच के प्रलोभनों की निःसारता का निरंतर ध्यान करके, उनसे विरक्त होना चाहिए, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार, ज्योति जगत में, जाने की अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य का छायासंसार से असंतुष्ट होना आवश्यक है । अतः, वियोगकारक ध्यान संयोग-कारक ध्यान की प्रवेशिका है । वियोगकारक ध्यान का

वियोगकारक ध्यान करने से संयोगकारक ध्यान करना सरल हो जाता है ।

प्राथमिक महत्व है; और वह संयोगकारक ध्यान में प्रवेश करने का मार्ग है ।

संयोगकारक ध्यान वियोगकारक ध्यान की अपेक्षा अधिक फलदायक है ।

यों तो संयोगकारक ध्यान तथा वियोगकारक ध्यान, दोनों, एक प्रकार से आवश्यक हैं; किंतु अंत में, वियोग-कारक ध्यान की अपेक्षा, संयोगकारक ध्यान अधिक फलदायक तथा महत्वशाली सिद्ध होता है । छाया से मनुष्य यदि घिर गया है, तो छाया से लगातार दुखी और उद्विग्न रहने से, उसका कुछ कल्याण नहीं होगा । छाया के प्रति केवल क्षुब्ध एवं क्रुद्ध होने से, उसकी चिंताओं का अंत नहीं हो सकता । किंतु, यदि छाया के विरुद्ध क्षोभ और क्रोध करने के बदले, वह सूर्य के नीचे आने के महत्वपूर्ण कार्य में, अपने को लगावे, तो उसे मालूम होगा, कि सूर्य के उज्वल प्रकाश के नीचे उसके पहुँचते ही छाया का लोप हो चुका है । **अतएव, बंधनों एवं सीमाओं से बेमतलब सदैव असंतुष्ट रहने में, समय नष्ट करना व्यर्थ है । असली महत्व का विषय तो अपने स्थिर किये गये आदर्श की ओर पहुँचने का साक्रिय उद्योग करना है** । जब तक मनुष्य का मुंह सूर्य की ओर मुडा हुवा है, और जब तक, वह सूर्य के प्रकाश में चलने का प्रयत्न कर रहा है, तब तक, वह छाया उसका कुछ भी

बिगाड नहीं सकती, जिससे वह आक्रांत है, या जिससे वह घिरा हुवा है। ठीक उसी प्रकार, जब तक, साधक अपने आध्यात्मिक आदर्श को प्राप्त करने के लिए, दृढ प्रतिज्ञा तथा कृतसंकल्प है, तब तक, उसे अपनी दुर्बलताओं और असफलताओं की अत्याधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। उसकी तीर्थयात्रा के समाप्त होते ही, उसकी असफलताओं का कहीं नाम निशान नहीं मिलेगा।

शरीर के लिए, भोजन के पाचन का जो महत्व है, आत्मा के लिए, संयोगकारक ध्यान का भी वही महत्व है।

भोजन का सादृश्य

स्वास्थ्य–प्रद भोजन के पाचन से, शरीर की न्यूनताओं की पूर्ति हो जाती है। इसी प्रकार, आध्यात्मिक सत्यों को पचाकर, आत्मा स्वस्थ हो रह सकता है। आध्यात्मिक सत्यों पर ध्यान करने से, वे अपनाये जाते हैं। संयोगकारक ध्यान के विभिन्न प्रकार हैं, और अपने अपने ढंग से, सभी लाभदायक हैं। भोजन के विभिन्न तत्वों, एवं उनके पोषक सत्वों को जानना ही, काफी नहीं है। इन तत्वों, एवं सत्वों की उचित मात्रा स्थिर करना, और, इस प्रकार, भोजन को समभार करना (balancing) आवश्यक होता है। इसी प्रकार, ध्यान को भी समभार करना जरूरी हो जाता है। मन के विषम विकास से, उन्नति में, बाधा पहुँचती है; क्योंकि विषम मानसिक विकास से आंतरिक संघर्ष की उत्पत्ति होती है। तथा **ध्यान के**

विभिन्न प्रकारों के समतोल या सममिश्रण से, शीघ्र उन्नति होती है, क्योंकि उससे मन शांत तथा समभार होता है। साधक की निजी विशेष कठिनाइयों को दूर करने के लिए सत्य के जिन अंशों पर जोर देने की जरूरत रहती है, उनपर जोर देते हुए ध्यान का जो सममिश्रण तैयार किया जायगा उसीसे मन की समता तथा स्थिरता की वृद्धि होगी।

आत्मविरोधी वस्तुओं का बहिष्कार तथा निराकरण करना ध्यान का दूसरा प्रकार है। भोजनवाला उक्त सादृश्य इस पर भी लागू किया जा सकता है।

सादृश्य का विस्तार

दोष–पूर्ण भोजन जैसा शारीरिक स्वास्थ्य को बिगाड़ देता है। वैसा ही गलत ढंग का ध्यान मन को अव्यवस्थित कर देता है। अनुचित भोजन स्वास्थ्य को पोषित करने के बदले, उसे नष्ट कर सकता है; उसी भांति, भोग विषयों का नैसर्गिक ध्यान मन के बंधनों को छिन्न करने के बजाय, और नए बंधनों की सृष्टि करता है। अतएव, **जिस प्रकार दूषित भोजन त्याज्य है, उसी प्रकार अनुचित ध्यान भी त्याज्य है;** और जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के लिए मलत्याग आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अवांछनीय विचारों एवं भावनों का बहिष्कार जरूरी है।

आध्यात्मिक उन्नति करने में, मन की जो दो विशिष्ट क्रियाएं हैं, और उनके आधार पर, ध्यान जिन दो श्रेणियों

में विभक्त किया गया है, अब तक उन्हीं क्रियाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। दूसरे तत्त्व के अनुसार, ध्यान के जो भेद किये जा सकते हैं, उन्हें जानना भी अत्यंत जरूरी है। **ध्यान क्रम के समय, व्यक्तित्व** (personality) **का जो भाग प्रधान कार्य करता है, उसी के अनुसार, ध्यान, विभिन्न श्रेणियों में, विभक्त किया जा सकता है।** इस द्वितीय तत्व के आधार पर, ध्यान के तीन भेद है।

दूसरे तत्त्व के अनुसार ध्यान तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है!

पहले प्रकार के ध्यान में, बुद्धि प्रमुख रूप से, कार्य करती है; अतः उसे **विवेक-प्रधान ध्यान** (Discriminative Meditation) कहना युक्ति संगत होगा। दूसरे प्रकार के ध्यान में, हृदय का प्रमुख कार्य होता है। अतः उसे **हृदय-प्रधान ध्यान** (Meditation of the heart) कहा जा सकता है। तीसरे प्रकार के ध्यान में, मनुष्य के कार्य करने के स्वभाव की प्रधानता रहता है; अतः उसे (Meditation of Action) कह सकते हैं। 'मै शरीर नहीं हूँ किंतु अनन्त हूँ' इस प्रकार का ध्यान विवेकप्रधान ध्यान है। साधक के हृदय से, दैवी प्रियतम के प्रति, सतत भाव-प्रवाह रहना, हृदयप्रधान ध्यान है सद्गुरु तथा मानव जाति की निःस्वार्थ सेवा के लिए,

विवेकप्रधान ध्यान, हृदयप्रधान ध्यान तथा कृतिप्रधान ध्यान।

अपना संपूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देना, कृतिप्रधान ध्यान है। ध्यान के इन तीन प्रकारों में, हृदयप्रधान ध्यान सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम है। किंतु ध्यान के अन्य दो प्रकार भी अपने ढंग से, महत्वपूर्ण हैं; और उनकी उपेक्षा करने से साधक की आध्यात्मिक उन्नति में रुकावट पहुँच सकती है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के ध्यान यथार्थ में एक दूसरे के पूर्णतः बहिष्कारक नहीं हैं। उनका, हर प्रकार से, सम्मिश्रण किया जा सकता है। कभी कभी, एक प्रकार का ध्यान अनिवार्यतः दूसरे प्रकार के ध्यान में परिणत होता है। एवं, एक प्रकार के ध्यान का विकासक्रम, तब तक अवरुद्ध हो जाता है जब तक दूसरे प्रकार के ध्यान में भी, उसी सीमा तक उन्नति न की जाय। साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिए, तीनों प्रकार के ध्यान आवश्यक हैं। वे प्रायः सदैव मानसिक न्यूनता की पूर्ति करते हैं; तथा परस्पर विरोधी न हो कर परस्पर पूरक हैं।

उक्त तीन प्रकार के ध्यान परस्पर विरोधी नहीं किंतु परस्पर पूरक हैं।

किंतु, एक प्रकार का ध्यान, दूसरे प्रकार के ध्यान की उन्नति में, बाधा भी डाल सकता है, यदि अनुचित समय पर उसका अवलंबन किया जाय। तीनों प्रकार के ध्यान, जीवन के उन विभिन्न भागों को विकसित करते हैं, जो समानतः सत्य हैं। किंतु, **व्यक्ति की आंतरिक अवस्था की अपेक्षा, जीवन के किसी एक सत्य को ग्रहण करना,**

दूसरे सत्य को ग्रहण करने से, बहुधा अधिक जरूरी हुआ करता है। यही वजह है, कि सद्गुरु सभी साधकों के लिए, एक ही तरह के ध्यान की आज्ञा नहीं देते; किंतु, साधक की व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार वे विशेष आदेश दिया करते हैं,

एक प्रकार का ध्यान दूसरे प्रकार के ध्यान में हस्तक्षेप कर सकता है।

किसी खास परिस्थिति में किस प्रकार के ध्यान की जरूरत है, इसे साधक ठीक ठीक निश्चित नहीं कर सकता।

सद्गुरु के विशिष्ट आदेशों की आवश्यकता।

एक खास तरह के ध्यान का अभ्यास करते करते, साधक को उसका व्यसन हो जाता है। वह उस पर इतना आसक्त हो जाता है, कि दूसरे किस्म का ध्यान करना, उसके लिए असंभव हो जाता है। दूसरे किस्म के ध्यान को उपेक्षा करने के कारण, वह अपने खोदे हुए गर्त में ऐसा गिर जाता है, कि उससे बाहर निकलना, उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरे प्रकार के ध्यान के महत्त्व को वह नहीं समझता; और न वह उन्हें जरूरी समझता है। संभव है, किसी खास दिशा में वह अपनी न्यूनता को महसूस करे। किंतु रोगी को, जिस प्रकार अनेक औषधियाँ अरुचिकर माल्म होती हैं, उसी प्रकार, साधक को, जिस प्रकार के ध्यान की दर असल आवश्यकता है, उसे वह अप्रिय माल्म

होता है; और ऐसे ध्यान को स्वीकार करने की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। **किसके लिए किस प्रकार का ध्यान जरूरी है, इस विषय पर सद्गुरु की सहायता तथा सलाह अनिवार्य हैं।** साधक को अपनी आवश्यकता का जो ज्ञान है, उसकी अपेक्षा सद्गुरु को साधक की आंतरिक अवस्था तथा आध्यात्मिक आवश्यकता का, अनन्त गुना अधिक ज्ञान रहता है। साधक के एकांगी ध्यान के कारण, उसके व्यक्तित्व के जिस भाग की उपेक्षा हो गयी रहती है, और इस उपेक्षा की वजह उस भाग को जो क्षति पहुँची रहती है, उस क्षति की पूर्ति करने, एवं उस भाग की उन्नति को ध्यान में रख कर ही, सद्गुरु साधक को विशिष्ट आदेश देता है।

ध्यान के अभ्यास से ही ध्यान का यथार्थ महत्त्व समझा जा सकता है।

सद्गुरु साधक को ध्यान की जिस विशिष्ट पद्धति की आज्ञा प्रदान करता है, वह शुरु शुरु में, उसे पसंद नहीं आती। भले ही अरुचिपूर्वक वह शुरु करे, किन्तु अभ्यास करने पर, उसे उसका यथार्थ महत्व तथा उसका यथार्थ अभिप्राय समझते देर नहीं लगती। धीरे धीरे, उस विशिष्ट प्रकार के ध्यान में, उसकी रुचि बढने लगती है। उस खास तरह के ध्यान का पूरा अभ्यास कर लेने पर ही साधक उसका महत्त्व एवं उद्देश्य समझ सकता है। किसी भी प्रकार के ध्यान की कीमत तथा संभाव्यताएं

उसके संबंध में पहले से अनुमान और अंदाज लगाने से नहीं जानी जा सकती हैं। ऐसे सैद्धान्तिक अनुमान से, कुछ थोडा फायदा हो सकता हैं; किंतु कोरे अनुमान से, ध्यान की वास्तविक उपयोगिता की थाह मिलना असंभव है। **आध्यात्मिक महत्त्व की अन्यान्य अनेक वस्तुओं की ही भांति, ध्यान का पूरा लाभ, उसका पूरा अभ्यास करने पर ही, प्राप्त होता है, न कि पहले से उसके महत्त्व को समझने का प्रयत्न करने से।**

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ निश्चय की अवश्यकता।

किसी भी प्रकार के ध्यान में, सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिए, उसकी समस्त संभाव्यताओं का शोध करने का निश्चय करके, उसका अभ्यास करना आवश्यक है। पहले से ही, मन में सीमित अपेक्षाएं गढ कर उसे ध्यान शुरु नहीं करना चाहिए। उसे चेतना की अनपेक्षित अवस्थाओं का अनुभव करने के लिए तैयार रहना चाहिए। एक खास तरह की ध्यान विधि, उसे जहां पहुंचावे, वहां तक जाने के लिए, उसे सहर्ष तैयार रहना चाहिए। उसे कठोर पूर्व प्रतीक्षा तथा पूर्वापेक्षा नहीं बांध लेनी चाहिए। एकाग्रता तथा अनन्यता ही ध्यान के सार हैं। अतः **ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य समस्त विचारों और अनुमानों, एवं प्रतीक्षाओं और अपेक्षाओं का पूर्णतः बहिष्कार कर देना चाहिए।**

सद्गुरु के पथप्रदर्शन तथा देखरेख के अभाव में, साधक यदि अपनी ही जिम्मेदारी पर, किसी विशिष्ट ध्यानक्रम का अवलंबन करता है, तो **वह उसमें इतनी दूर चला जा सकता है, कि उसके सम्यक्दृष्टि खो बैठने की तथा वापिस न लौटने की संभावना रहती है।** अत्यंत आवश्यक होने पर भी, उस ध्यानक्रम को त्याग कर, किसी दूसरी लाभदायक ध्यानपद्धति को अपनाना, उसके लिए असंभव हो सकता है। सद्गुरु की आज्ञा के अनुसार, किसी विधि का अनुसरण करने से, यह खतरा नहीं रहता। सद्गुरु की देखरेख तथा पथप्रदर्शन के अनुसार, ध्यान करने में, यह लाभ रहता है, कि सद्गुरु साधक को उपयुक्त समय पर रोक सकता है। इतना ही नहीं, किंतु पहले की ध्यानपद्धति से, जो हानि हो गई रहती है, उस हानि की सद्गुरु पूर्ति कर सकता है, तथा साधक को उसके लिए सबसे अधिक लाभदायक ध्यान मार्ग भी सुझा सकता है।

सद्गुरु की देखरेख अनिवार्य है

इस संबंध में, एक दृष्टांत-कथा का उल्लेख आनुषंगिक होगा। एक अत्यंत बुद्धिमान मनुष्य था। वह व्यक्तिगत अनुभव से यह जानना चाहता था, कि फाँसी लगाने से साँस रुंधते समय कैसा मालूम होता है। उस अवस्था के अनुमान मात्र से उसे संतोष नहीं होता था। वह स्वयं उस अवस्था का अनुभव करना

एक दृष्टांत

चाहता था। उसने अपने एक मित्र को, अपने साथ चलने, तथा वह प्रयोग अपने खुद पर करने में, उसकी सहायता करने के लिए कहा। उसने उससे कहा, कि वह एक रस्से से लटक जायगा, और साँस रुंधने का अनुभव ले कर, खतरनाक सीमा को पहुंचते ही, वह उसे इशारा करेगा। उसने अपने मित्र को यह भी कहा, कि जब तक, उसे संकेत न मिले, तब तक वह उसकी फाँसी न खोले। उसके मित्र ने, यह सब स्वीकार कर लिया; और वह आदमी अपने गले के चारों ओर रस्सा बाँध कर लटका गया। किंतु, साँस रुंधते ही, वह बेहोश हो गया; और वह अपने कहे अनुसार अपने मित्र को संकेत नहीं दे सका। किंतु, उसका मित्र समझदार था। यह जान कर, कि उस मनुष्य का श्वासरोध खतरनाक सीमा तक पहुंच गया है, वह राजीनामा की हद लाँघ गया; और उसकी जान बचाने के लिए उसने उसके गले का रस्सा खोल दिया। उस मनुष्य की जान, उसकी खुद की दूरदर्शिता तथा पूर्व सावधानी की वजह नहीं बची, किंतु उसके मित्र की बुद्धिमत्ता की वजह बची। ठीक उसी प्रकार, **साधक का अपनी बुद्धि और विचार पर निर्भर रहने की अपेक्षा, अपने सद्गुरु पर निर्भर रहना अधिक हितकर सिद्ध होता है।**

——

ध्यान के प्रकार

(भाग ३ रा)

ध्यान के रूपों का सामान्य श्रेणिविभाजन

ध्यानक्रम का लक्ष्य है अनुभव के भिन्न भिन्न तथा विस्तृत क्षेत्र को समझना, तथा उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करना। ध्यान की इस व्याख्या से मालूम होगा, कि वह कतिपय इने गिने साधकों का ही कार्य नहीं है। **प्रत्येक जीवित प्राणी किसी न किसी प्रकार के ध्यान में मग्न रहता है।**

ध्यान अनुभव को समझने का एक प्रयत्न है।

शेर जब मेमने को देखता है और उसका भक्षण करना चाहता है, तब वह मेमने का 'ध्यान' करता है। और शेर को देखते ही, मेमना भी शेर का 'ध्यान' करने लग जाता है। प्लेटफार्म पर, ट्रेन की प्रतीक्षा करने वाला मनुष्य ट्रेन का 'ध्यान' करता है; तथा अगले स्टेशन में पहुँच कर, विश्राम की अभिलाषा करने वाला ड्रायव्हर स्टेशन के 'ध्यान' में लगा रहता है। किसी उलझी हुई समस्या को सुलझाने में लगा हुआ वैज्ञानिक, उस समस्या के 'ध्यान' में मग्न

ध्यान सार्वलौकिक है।

रहता है। अत्यंत व्यग्रतापूर्वक डाक्टर की बाट जोहते रहने-वाला रोगी, डाक्टर पर 'ध्यान' करता है; और अपने बिल की प्रतीक्षा करनेवाला डाक्टर, बिल पर 'ध्यान' करता रहता है। पुलीस, जब चोर को पकडने के प्रयत्न से लगा रहता है, तब वह चोर के 'ध्यान' में संलग्न रहता है; और चोर पुलीस के 'ध्यान' में तल्लीन रहता है। जो मनुष्य प्रेम में फंस जाता है, वह अपनी प्रेयसी के 'ध्यान' में डूबा रहता है। जो मनुष्य ईर्षापूर्वक अपने प्रतिद्वंद्वी के प्रति चौकन्ना रहता है, वह अपने प्रतिद्वंद्वी का 'ध्यान' करता रहता है। जो मनुष्य अपने मित्र की मृत्यु पर दुखी रहता है वह अपने मित्र पर 'ध्यान' करता है। और जो मनुष्य अपने शत्रु से बदला लेने का अवसर ताकता रहता है, वह अपने शत्रु पर 'ध्यान' करने में लगा रहता है। जो मनुष्य सुंदर पोशाक से अपने शरीर को सजाने में भूला रहता है, वह अपने को शरीर समझने के 'ध्यान' में मग्न होता है; और जो मनुष्य अपनी बौद्धिक प्रतिभा या मानसिक योग्यता की शेखी बघारता है, वह अपने को मन समझने के 'ध्यान' में खोया रहता है।

ये सभी, एक प्रकार से, 'ध्यान' के ही रूप हैं। किंतु आध्यात्मिक उपदेशों में, 'ध्यान' शब्द का प्रायः ध्यान के उन्हीं रूपों से तात्पर्य रहता है जो अनुभव को गंभीरता-पूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से समझते और सुलझाते हैं। उपर्युक्त

उदाहरणों में, विषयों में मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ध्यान किया जाता है। अर्थात् उपस्थित विषय पर, मन की स्वाभाविक क्रिया के कारण, उस विषय का ध्यान किया जाता है; और ध्यान करने वाला ध्यान के अंतिम उद्देश्य से अज्ञात रहता है।

आध्यात्मिक ध्यान अपने लक्ष्य को जानता रहता है।

उपर्युक्त 'ध्यान-क्रम'में, जिस विषय का साधक चिंतन करता है, उसका अंतिम उद्देश्य क्या है, यह बात वह प्रायः नहीं जानता किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में, कम से कम उसकी आरंभिक अवस्था में, ध्यान सोच विचार कर के किया जाता है; और ध्यान करने वाले को, ध्यानकाल में, ध्यानक्रम के अंतिम लक्ष्य का ज्ञान अधिक स्पष्टतः रहता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न ध्यान, चेतना के संसार में पाये जाने वाले अन्यान्य ध्यान के विकसित रूप हैं; वे अन्य प्रकार के ध्यानों से विशिष्ट तथा भिन्न होते हुए भी, उनसे विछिन्न एवं असंबद्ध नहीं हैं। **अन्य सामान्य प्रकार के ध्यानों के परिणामस्वरूप, जब मनुष्य संकटापन्न परिस्थिति में फस जाता है, या किसी विपत्ति से आक्रांत हो जाता है, तब आध्यात्मिक ध्यानों की ओर उसकी दृष्टि जाती है।** वह, अपनी कृतपूर्वध्यान पद्धति में, संशोधन करने के लिए, विवश होता है; और अपनी स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवृत्ति का संयम करने, तथा

चेतना को अंतर्मुख करने का प्रयत्न करता है। अब वह किसी आध्यात्मिक आदर्श के अनुसार, ध्यान के विषयों को विवेकपूर्वक चुनने के लिए, बाध्य होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ध्यानपद्धतियाँ दो प्रकार की हैं (१) सामान्य ध्यान, अर्थात् दिव्य सत्यों को ग्रहण करना, तथा (२) विशिष्ट ध्यान, अर्थात् अनुभव के किसी निश्चित विषय को चुन लेना, तथा अन्य समस्त विषयों का बहिष्कार करके उसी का अनन्य ध्यान करना। सामान्य विचारक्रमों को गंभीरतापूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से करना ही सामान्य ध्यान है। आध्यात्मिक साधना शुरु करने के पूर्व किये जाने वाले ध्यान से वह इन बातों में भिन्न है:—(१) विचारक्रमों को, अब आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सत्यों की ओर निर्दिष्ट किया जाता है तथा (२) परीक्षणात्मक वृत्ति तथा सत्य के प्रति अनुराग का न्यास किये बिना, बुद्धि, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा वर्णित दिव्य सत्यों के विवरण का विवेक पूर्वक उपयोग कर लेती है।

सामान्य ध्यान तथा विशिष्ट ध्यान।

इसके विपरीत, विशिष्ट ध्यान में, सत्य की ओर केवल बौद्धिक पहुंच नहीं की जाती; किंतु उसकी अपेक्षा, अधिक गंभीर अनुभव प्राप्त किया जाता है। सामान्य ध्यानपद्धति की ही भांति, विशिष्ट ध्यान पद्धतियों में भी, मन को, ध्यान विषय का बौद्धिक अनुभव करने का अवसर रहता है।

किंतु; इसके अतिरिक्त **विशिष्ट ध्यान–पध्दतियों के द्वारा, मानसिक संयम तथा अनुशासन प्राप्त किया जाता है; अब तक निष्क्रिय तथा निद्रित रहने वाली अंतःकरण की योग्यताओं की उन्नति की जाती है; तथा व्यक्तित्व की सुप्त तथा गुप्त संभाव्यताओं का उद्घाटन किया जाता है।**

विशिष्ट ध्यान का लक्ष्य बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक गंभीर अनुभव प्राप्त करना होता है।

सामान्य ध्यान के सम्मुख सिद्धान्तसंबंधी समस्या होती है; किंतु विशिष्ट ध्यान के सम्मुख कृतिप्रधान (Practical) समस्या होती है। सामान्य ध्यान, सत्य के सिद्धान्तों को, विवेकपूर्वक समझता है; किंतु **विशिष्ट–ध्यान, सत्य के सिद्धान्तों को समझते हुए, समझे हुए, सिद्धान्तों को आचरण में लाता है। ज्ञान एवं अनुभूति के मार्ग में उपस्थित कुछ विशेष विघ्नोंपर, विजय प्राप्त करने में विशिष्ट ध्यान पद्धतियाँ सहायक होती हैं।** विशिष्ट ध्यानपद्धतियों के अवलंबन से, मन वश में किया जा सकता है; तथा मन की सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सकता है। विशिष्ट ध्यानपद्धतियाँ, कारागार की दीवारों को जी जान से तोड फोड कर बाहर निकलने की चेष्टा है। वे बंदीगृह की दीवारों की मजबूती के बारे में,

विशिष्ट ध्यान के सम्मुख कृतिप्रधान (Practical) समस्या होती है।

खयाली अंदाज लगाना, तथा 'राय' कायम करना नहीं है; और न कैद में बंद रह कर, आलस्यपूर्वक यह कल्पना करना हैं, कि बाहर निकलने पर, कौन कौन सी चीजें देखी जा सकती हैं।

सैध्दान्तिक सत्य (formal and theoretical truth) **के प्रति निरुत्साहयुक्त निष्ठा की अपेक्षा, सच्ची भूल करना, तथा उससे गंभीर सबक सीखना, आध्यात्मिक जीवन में, अधिक लाभदायक होता है।** विशिष्ट ध्यान पद्धतियों में, आध्यात्मिक कार्य-सिद्धि के लिए, सैद्धान्तिक सत्य को त्यागने की भी आवश्यकता पडती है। इस प्रकार, सत्य के किसी एक रूप या सूत्र पर चित्त को एकाग्र करते समय, सत्य के किसी अन्य रूप या सूत्र के मन में प्रवेश का पूर्णतः निषेध कर देना चाहिए, फिर चाहे यह अन्य रूप या सूत्र का उतना ही आध्यात्मिक महत्व हो, या उससे अधिक आध्यात्मिक महत्व हो। जब साधक किसी एक सद्गुरु पर ध्यान कर रहा हो, उस समय, उसे अन्य गुरु जनों के विचार को मन में जरा भी स्थान नहीं देना चाहिए, यद्यपि ये गुरुजन उतने ही पहुंचे हुए हों, जितना पहुंचा हुआ वह गुरु है, जिस पर वह ध्यान कर रहा है। इसी प्रकार, मन को सब विचारों से शून्य करते समय, तीव्र आत्मचिंतन नहीं किया जा सकता,

आध्यात्मिक कार्य सिद्धि के लिए सैद्धान्तिक सत्य को पीछे रखना पडता है।

यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, तीव्र आत्मचिंतन, उतना ही सहायक है, जितना मन को चिंतनशून्य करने का क्रम।

नियमानुसार, अपवादों को छोड कर, विभिन्न विशिष्ट ध्यान पद्धतियों को मिश्रित करना वांछनीय नहीं हैं, यद्यपि सिद्धान्ततः वे सत्य के विभिन्न अंगों को अपनाने में सहायता पहुंचाती हों।

सामान्य ध्यान की क्रिया।

सत्य के विभिन्न कणों का संग्रह करना, तथा जीवन के संबंध में, सर्वांगीण तथा पूर्ण दृष्टि तैयार करना, सामान्य ध्यान का लक्ष्य है। सामान्य ध्यान में, विचार, सत्य के सभी अवयवों के प्रति स्वतंत्र, ग्रहणशील तथा व्यापक होता है। इस प्रकार के सामान्य ध्यान का अपना निजी महत्व एवं औचित्य है। **सामान्य ध्यान विशिष्ट ध्यान के पहले भी लाभदायक होता है, तथा बाद में भी।** किंतु सामान्य ध्यान विशिष्ट ध्यान का स्थानापन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट ध्यानपद्धतियों के उद्देश्य एवं क्रियाएं, बिलकुल भिन्न होती हैं।

विशिष्ट ध्यान के विभिन्न रूपों की तुलना, व्यायाम के खास रूपों से, की जा सकती है। व्यायाम के खास रूप का एक खास उद्देश्य तथा खास औचित्य होता है। मांसपेशियों का व्यायाम केवल मांसपेशियों को मजबूत करने के लिए होता है, किंतु इसका यह मतलब नहीं

विशिष्ट ध्यान खास व्यायाम के सदृश है।

है, कि अंतडियां शरीर का महत्वपूर्ण अंग नहीं हैं। शरीर के सामान्य स्वास्थ्य के लिए, दोनों प्रकार के व्यायाम महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि दोनों व्यायाम एक ही समय, तथा एक ही साथ, नहीं किये जा सकते। अंतडियों का व्यायाम करते समय, मांसपेशियों के संबंध में, अनावश्यक चिंता नहीं होनी चाहिए। तथा मांसपेशियों का व्यायाम करते समय, अंतडियों की व्यर्थ चिंता नहीं करनी चाहिए।

सामान्य ध्यान तथा विशिष्ट ध्यान एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते।

जिस प्रकार, वास्तविक स्वास्थ्य, अर्थात् शरीर के समतोल विकास को, ध्यान में रख कर, विभिन्न विशिष्ट व्यायाम-पद्धतियां चुनी, तथा परस्पर संबद्ध की जा सकती हैं, उसी प्रकार, सामान्य-ध्यान काल में बनाये हुये पूर्ण तथा सर्वांगीण आदर्श को ध्यान में रख कर, विभिन्न विशिष्ट ध्यानपद्धतियों को चुनना, तथा अन्योन्यान्वित करना चाहिए। सामान्य ध्यान का कोई नियम नहीं रहता। सामान्य ध्यान स्वतंत्र विचार है। सत्य के सभी अंगों का अनुसंधान ही उसका लक्ष्य होता है। **किंतु जिस प्रकार, सामान्य ध्यान का स्थान विशिष्ट ध्यान नहीं ले सकता, उसी प्रकार, विशिष्ट ध्यान का स्थान, सामान्य ध्यान नहीं ले सकता।** दोनों अपने अपने स्थान, में आवश्यक हैं; और दोनों का अपना अपना महत्व है।

अनुभव के जिन विषयों को मन समझना चाहता है, उन विषयों के आधार पर, विशिष्ट ध्यानपध्दतियों को श्रेणिबद्ध करने से, उनकी गणना करने में सुविधा होगी। समस्त मानवीय अनुभव का यह लक्षण है, कि उसमें एक अनुभव करनेवाला होता है, तथा दूसरा अनुभव का विषय होता है। कुछ ध्यानपध्दतियां **अनुभव करनेवाले** (Subject) से संबंध रखती हैं; कुछ ध्यानपध्दतियां **अनुभव के विषय** (Object) से संबंध रखती हैं; एवं कुछ ध्यानपद्धतियां, अनुभव करनेवाले और अनुभव के विषय के बीच होने वाले **मानसिक व्यापार** (Mental Operations) से संबंध रखती हैं। इस प्रकार, तीन विशिष्ट ध्यान-पद्धतियां हैं।

विशिष्टध्यान की विभिन्न पद्धतियां।

सभी ध्यान का लक्ष्य है सहजसमाधि की उपलब्धि। सहजसमाधि सिध्द पुरुषों को प्राप्त रहती है। साधक जिन ध्यान-पध्दतियों का अवलंबन करता है, वे सभी ध्यानपध्दतियां, अंततोगत्वा, सहजसमाधि की प्राप्ति में सहायक होती हैं। सहजसमाधि दो प्रकार की होती है (१) निर्वाण समाधि तथा (२) निर्विकल्प समाधि। निर्वाण समाधि का अर्थ है ईश्वरत्व में निमग्न रहना तथा निर्विकल्प समाधि का अर्थ है ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति करना।

सहजसमाधि के दो प्रकार।

ध्यान के प्रकारों की सामान्य श्रेणियों की सूची।

	मनुष्य के साधक बनने के पहले किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के 'ध्यान'				
ब	साधक के किये जाने वाले ध्यान के रूप	(१)	सामान्य ध्यान या दैवी सत्य को ग्रहण करना।		दार्शनिक चिंतन (Philosophical thinking)
				२	गुरूजनों से उपदेश· —श्रवण
				३	गुरूजनों द्वारा लिखित ग्रंथों का पठन
		(२)	विशिष्ट ध्यान जिसमें अनुभव के कुछ निश्चित विषय चुन लिए जाते हैं।	१	अनुभव के विषय (Object of Experience) से संबंध रखनेवाला ध्यान
				२	अनुभव करनेवाला (Subject of Experience) से संबंध रखनेवाला ध्यान
				३	मानसिक व्यापार (Mental Operations) से संबंध रखनेवाला ध्यान
क	पहुंचे हुये पुरुषों का ध्यान या सिद्धों की सहज समाधि			१	निर्वाण या निमग्नता
				२	निर्विकल्प समाधि या ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति

ध्यान के प्रकारों की सामान्य श्रेणियों की जो सूची (Table) दी गई है, वह इस लेख के सारांश का संक्षेप है। सामान्य श्रेणियों की इस सूची में, साधनावस्था के पहले, जिन ध्यानों का अवलंबन किया जाता है ('अ'), उनका उल्लेख, आरंभ में, स्पष्टतापूर्वक किया जा चुका है।

सामान्य श्रेणियों की सूची।

सामान्यध्यान के विभिन्न रूपों (ब) की चर्चा, भाग ४ में, की जायगी। विशिष्ट ध्यान के विभिन्न रूपों (ब!!) तथा उनके उपरूपों में प्रत्येक का अलग स्पष्टीकरण, भाग ५ तथा ६ में किया जायगा। सहजसमाधि (क) और उसके रूपों का विवरण, भाग ७ तथा ८ में किया जायगा।

ध्यान के प्रकार

(भाग ४)

दिव्य सत्यों का ग्रहण

(कक्षा अ)

सामान्य ध्यान की विधियां।

सामान्य ध्यान आध्यात्मिक जीवन का आरंभ है। सामान्य ध्यान से आरंभिक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में सहायता मिलती है। वह कुछ चुने हुए अनुभव के खास विषयों से संबंध नहीं रखता। उसका क्षेत्र विस्तृत होता है। जीवन एवं संसार से संबंध रखनेवाले दिव्य सत्यों को समझने, तथा ग्रहण करने का वह प्रयत्न करता है। जब जीवन तथा विश्व के अंतिम स्वरूप तथा लक्ष्य-विषयक गंभीरतर समस्याओं में, वह रुचि लेना शुरु करता है, और उनके विषय में चिंतन करना आरंभ करता है, तो वह सामान्य ध्यान में प्रवेश करता है। **दर्शनशास्त्र के अंतर्गत जो कुछ भी है, उसका अधिकांश, जीवन तथा संसार के अंतिम स्वरूप समझने के लिए बौद्धिक पहुंच के**

स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन की सीमाएं।

प्रयत्न का परिणाम है। किंतु दिव्य सत्यों का केवल बौद्धिक ज्ञान दुर्बल, अपूर्ण एवं अनिर्णीत रहता है, क्योंकि तर्क के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सीमाबद्ध है। स्वतंत्र चिंतन तथा एकमात्र तर्क के द्वारा जो दार्शनिक ध्यान (Philosophical thinking) या तत्वविचार किया जाता है, उससे सत्यसंबंधी निश्चित निष्कर्षों की प्राप्ति नहीं होती है। बहुधा, ऐसे चिंतन से. विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं, मतों तथा दृष्टि-कोणों की उत्पत्ति होती है। किंतु दार्शनिक ध्यान महत्व से खाली नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा, साधक कुछ सीमा तक ज्ञान के प्रदेश में प्रवेश करता है, तथा उससे साधक को कुछ विचारसंयम (Intellectual discipline) की प्राप्ति होती है, जिसके कारण तथा जिसके बल पर, ज्ञानियों के द्वारा वर्णित दिव्य सत्यों को प्राप्त करने, एवं ग्रहण करने में वह समर्थ होता है।

सामान्य ध्यान की अधिक लाभदायक रीति है, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा वर्णित जीवन तथा संसार संबंधी स्पष्टीकृत सत्यों का अध्ययन। ज्ञानी पुरुषों द्वारा दिव्य सत्यों के विवरण के पठन तथा श्रवण से यह शुरु किया जा सकता है।

ज्ञानियों द्वारा वर्णित सत्यों का अध्ययन।

जीवित सिद्ध गुरुओं अथवा समाधिस्थ सिद्ध गुरुओं द्वारा लिखित धर्मोपदेश का श्रवण, पठन, अध्ययन तथा मनन के द्वारा सामान्य ध्यान किया जा सकता है। क्योंकि ईश्वरदर्शी

पुरुषों के ग्रंथों के अध्ययन, मनन तथा उनमें वर्णित दिव्य सत्यों को ग्रहण करने से, साधक अपने जीवन को ईश्वरीय प्रयोजन के अनुकूल बना सकता है।

श्रवण का महत्व।

जब साधक जीवित गुरु के मुख से दिव्य सत्यों को सुनता है, तब वह उन्हें आसानी से, समझता तथा ग्रहण करता है। जीवित गुरु के मुख से श्रुत वचन प्रभाव-पूर्ण एवं शक्ति-शाली होता है। अन्य प्रकार से प्राप्त सत्य में, वह बल नहीं होता, जो गुरु से श्रुत सत्य में होता है। **जीवित गुरु का वचन, उसके जीवन एवं व्यक्तित्व के कारण, सजीव तथा प्रभावयुक्त होता है।** यही कारण है, कि अनेक धर्मग्रंथोंने दिव्य सत्यों को साक्षात् गुरुमुख से सुनने पर जोर दिया है। जीवित गुरु के संपर्क में आना, तथा उनके मुख से सत्य वचनों को श्रवण करना, अन्य प्रकार के सामान्य ध्यान से निःसंदेह श्रेष्ठ है।

पठन के द्वारा ध्यान से लाभ।

जीवित गुरु से संबंध स्थापित करना, तथा उनके मुख से सत्य का विवरण सुनना, सदैव संभव नहीं होता। ऐसी अवस्था में ही, पठन से कुछ लाभ प्राप्त किया जाता है। सर्वसामान्य साधकों के लिए, पठन से बढ कर और अन्य कोई सामान्य ध्यान का उपयुक्त साधन नहीं है। सत्य का लिखित वर्णन उन्हें कहीं भी प्राप्त हो सकता है, और वे उसका पठन

किसी भी समय, सुविधानुसार कर सकते हैं। जो ध्यान वर्णित सत्य के पठन से शुरु होता है, उससे यह विशेष लाभ है, कि वह अधिकांश साधकों को अत्यंत आसानी से प्राप्त हो जाता है। पठन संबंधी ध्यान 'कड्ढा–ब' में समझाया जायगा तथा पठनसामग्री 'कड्ढा–क' में प्रस्तुत की जायगी।

—

(कक्षा-ब)

पठन का ध्यान

पठन के द्वारा ध्यान करने में, कुछ व्यावहारिक अड़चनें हैं, क्योंकि दिव्य सत्यों के अधिकांश लिखित विवरण, केवल बौद्धिक अध्ययन के लिए होते हैं, ध्यान द्वारा ग्रहण करने के लिए नहीं होते। पठन के द्वारा ध्यान करने में, मुख्य ये कठिनाइयां हैं :—(१) ध्यान का तरीका ध्यान के विषय के लिए पर्याप्त नहीं होता। (२) ध्यान के तरीके में कोई त्रुटि होने के कारण ध्यान उत्साहरहित तथा यंत्रतुल्य हो जाता है। तथा (३) ध्यान का विषय संदिग्ध, अनिश्चित तथा दुर्बोध्य होता है।

पठन के द्वारा ध्यान करने में सामान्य कठिनाइयां।

उक्त जिन कारणों से, पठन का ध्यान विकृत तथा निष्फल हो जाता है, उन्हें दूर करने के उद्देश्य से, पठन के लिए ध्यान का एक विशिष्ट रूप इस लेख में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें ध्येय विषय स्पष्टतः वर्णित है। उसका पठन और ध्यान करने की राय दी जाती है। न केवल पठन द्वारा ध्यान करने

पठन के लिए ध्यान का एक विशिष्ट रूप प्रस्तुत करने से कठिनाइयां दूर हो जाती हैं।

की रीति को ही समझाने के लिए यह लेख लिखा गया है, किंतु इस प्रकार के ध्यान की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, दिव्य सत्यों का विवरण प्रस्तुत करने का उद्देश्य है पठन के द्वारा ध्यान करने में, जो व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, वे दूर कर दी जांय। कठिनाइयां इस तरह दूर कर दी गई हैं:— (१) **ध्यान की विधि तथा ध्यान का विषय एक दूसरे के लिए पर्याप्त और उपयुक्त हैं, जिससे विवेक पूर्वक ध्यान करना संभव हो जाता है।** (२) **पठन के द्वारा ध्यान करने की जो विभिन्न अवस्थाएं हैं, उनका पूर्णतः स्पष्टीकरण कर दिया गया है।** तथा (३) **दिव्य सत्यों का संक्षिप्त विवरण खास तौर से प्रस्तुत कर दिया गया है, जो ध्यान करने के लिए, एक उपयुक्त तथा महत्वपूर्ण पाठ्य सामग्री है।**

दिव्य सत्यों के पठन से आरंभ होने वाले ध्यान की तीन अवस्थाएं हैं:—

पठन द्वारा जो ध्यान आरंभ होता है उसकी अवस्थाएं।

(१) प्रथम अवस्था में, साधक को दिव्य सत्यों के विवरण को प्रतिदिन पढना चाहिए। और साथ ही साथ, उनका आद्यन्ततः चिंतन मनन करना चाहिए। (२) द्वितीय अवस्था में, पठन अनावश्यक हो जाता है; किंतु विवरण के विषय का निरंतर स्मरण तथा अनुशीलन करना चाहिए। (३) तीसरी अवस्था में, विवरण के विचार, जिन शब्दों में

व्यक्त किये गये हैं, उन शब्दों का स्वतंत्र रूप से स्मरण करना भी अनावश्यक है, तथा विचारों को मन में लाते समय भी, शब्दों का स्मरण करना अनावश्यक है। इसी प्रकार, विषय का तर्कशील चिंतन भी, सर्वथा समाप्त हो जाना चाहिए। ध्यान की इस अवस्था में, मन विचारराशि से शून्य, तथा तर्कवितर्क से रहित हो जाना चाहिए, तथा उसे, विवरण में वर्णित परम सत्य का स्पष्ट, सहज तथा आंतरिक ज्ञान हो जाना चाहिए।

पठन द्वारा ध्यान करने के लिए विशिष्ट पाठ्य सामग्री की प्रस्तुति।

किसी विशिष्ट विषय का अनन्यचिंतन ही विवेक-युक्त ध्यान है। अतः ध्येयविषय के स्पष्ट तथा संक्षिप्तविवरण ('कल्पा-क' में देखिये) के भीतर सृष्टी का संपूर्ण इतिहास तथा आध्यात्मिक पथ और ईश्वरानुभूति का पूर्ण वर्णन आ जाता हैं।

साधकों को चाहिए, कि वे विवेकपूर्वक विवरण को पढें, तथा उसमें वर्णित परम सत्यों को ग्रहण करें।

ध्यान के लिए, जो विशिष्ट पाठ्य सामग्री तैयार की गई है, वह अत्यंत सरल तथा उपयोगी है। क्योंकि उसके द्वारा पाठ्य विषय का पठन तथा चिंतन, साथ ही साथ, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, विषय के विवरण को सरल तथा संक्षिप्त बनाते समय, इस बात का ध्यान रखा गया है, कि उसको पढने से अनावश्यक तथा असंलग्न विचारों के उत्पन्न

होने की संभावना न रहे। किसी लंबे लेख, या स्थूलकाय ग्रंथ के विषय का चिंतन करने से असंलग्न विचारों के उपद्रव को दूर करना अत्यंत कठिन हो जाता है, फिर चाहे उस विषय को कंठस्थ भी क्यों न कर लिया जाय। अतः, ऐसे जटिल तथा विस्तृत विषय का सहज ध्यान असंभव हो जाता है। अमूर्त (abstract) विचारों के दीर्घकालीन ध्यान करते समय ही, मन में असंलग्न विचारों की उत्पत्ति की संभावना नहीं रहती, किंतु अनुभव के किसी स्थूल विषय का लंबा और लगातार ध्यान करने में ही, मन में अनावश्यक विचार उदय होते हैं। इसके विपरीत, इंद्रियातीत सत्य के संक्षिप्त विवरण का पठन, तथा चिंतन करने से, असंलग्न विचारों के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। दिव्य सत्यों के निम्नलिखित विवरण के विषय का यदि साधक ध्यान करेंगे—(ध्यान करने की जो रीतियां सविस्तर तथा संक्षेपतः ऊपर वर्णित हैं, उन्हीं रीतियों से)—तो उनके लिए, ध्यान करना न केवल सहज सरल, सुखद तथा उत्साहदायक होगा, किंतु सहायक एवं सफल भी होगा। इस प्रकार ध्यान करने से, जीवन के लक्ष्य की ओर वे एक अत्यंत महत्वपूर्ण कदम बढ़ावेंगे।

ध्यान के लिए विशिष्ट पाठ्य सामग्री के लाभ।

———

कक्षा—क

दिव्य सत्य

(पठन द्वारा ध्यान करने के लिए)

आत्मा की विश्वात्मा की ओर यात्रा ।

आत्मा एक अद्वितीय, तथा अनादि तथा अनन्त एवं सीमारहित परमात्मा से वस्तुतः एकरूप (Identical) है। यथार्थ में, आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, तथा मानासिक (कारण) संसारों से परे है, किंतु शरीर (स्थूल देह), प्राण (सूक्ष्म देह, जो इच्छाओं तथा जीवन की शक्तियों का वाहन है) तथा मनोदेह एवं कारण शरीर (जो मन का निवासस्थान है) से तादात्म अनुभव करने के कारण, वह अपने को सीमित समझता है। आत्मा अपनी इन्द्रियातीत अवस्था में एक रूप-रहित सीमातीत एवं अनन्त तथा नित्य है; किंतु तो भी, वह अनेक नामरूपात्मक, सीमित (finite) अनित्य तथा नश्वर संसार से युक्त हो जाता है। यह माया या सांसारिक भ्रम हैं।

आत्मा तथा उसका प्रेम।

नामरूपात्मक भासमान (Phenomenal) संसार पूर्णतः भ्रामक एवं मिथ्या हैं। दृश्य संसार की तीन अवस्थाएं हैं:—

(१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) मानसिक। यद्यपि संसार की ये तीनों अवस्थाएं मिथ्या हैं, तथापि उनके मिथ्यात्व के अंशों में भिन्नता है। स्थूल संसार (Gross World) सत्य (ईश्वर) से अत्यधिक दूर है, सूक्ष्म संसार (subtle World) सत्य से निकटतर है, तथा मानसिक संसार (Mental World) सत्य से निकटतम है। किंतु इन तीनों संसारों का अस्तित्व भ्रम के कारण दिखाई देता है। सत्य से साक्षात्कार करने के लिए, आत्मा को संसार की इन तीनों अवस्थाओं को पार करना पडता है।

भासमान (Phenomenal) संसार की अवस्थाएं।

सृष्टि का एक मात्र प्रयोजन यह है, कि आत्मा, विश्वात्मा (Oversoul) एवं परमात्मा की अनन्त अवस्था का चेतनापूर्वक (Consciously) अनुभव कर सके, **यद्यपि आत्मा का परमात्मा में नित्य निवास है, तथा उससे उसकी अटूट एकता है, तथापि वह देश-काल-निमित्त की सीमाओं में बद्ध सृष्टि से अलग रह कर, स्वतंत्रतापूर्वक उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।** अतः, एक, अद्वितीय तथा अनादि अनन्त परमात्मा से अपनी एकता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उसे चेतना (Consciousness) का विकास करना पडता है। चेतना विकसित करने के लिए, द्रष्टा (Subject)

सृष्टि का प्रयोजन।

एवं चेतना का केन्द्र, तथा दृश्य (object) एवं चेतना के विषय अर्थात वस्तुजगत् के द्वैत की आवश्यकता हुई।

सांसारिक भ्रम या विश्व प्रपंच का कारण।

आत्मा भ्रम में कैसे फँस जाता है? नामरूपरहित, सीमातीत (Infinite) तथा अनन्त, अनश्वर आत्मा अपने को नामरूपवान, सीमित तथा अनित्य और नश्वर कैसे समझने लगता है? पुरुष अपने को प्रकृति कैसे मानने लगता है? दूसरे शब्दों में, आत्मा सांसारिक भ्रम में क्यों फँस जाता है?

एक, अखंड, सत्य, अनादि, तथा अनन्त परमात्मा की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, आत्मा को चेतना की आवश्यकता हुई। आत्मा को चेतना अवश्य प्राप्त हुई; किंतु उसे ईश्वर की चेतना प्राप्त नहीं हुई; उसे संसार की ही चेतना प्राप्त हुई। परमात्मा की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किंतु परमात्मा की छाया की चेतना प्राप्त हुई। एक की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किंतु अनेक की चेतना प्राप्त हुई। सीमारहित अनन्त की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किंतु आदि-अन्त युक्त तथा सीमित की चेतना प्राप्त हुई। नित्य और अक्षर की चेतना प्राप्त नहीं हुई; किंतु अनित्य और क्षर की चेतना प्राप्त हुई। इस भाँति, आत्मा अपने को परमात्मा अनुभव करने के बजाय, सांसारिक भ्रम में, फँस गया। यही कारण है, कि यथार्थ में असीम होने पर भी, अपने को

वह सीमावान समझने लगा। दूसरे शब्दों में, **जब आत्मा चेतना का विकास करता है, तो उसे अपने वास्तविक स्वभाव की चेतना प्राप्त न हो कर, दृश्य संसार (जो उसी की छाया है,)** की चेतना प्राप्त होती है।

प्राणियों का विकास (Organic Evolution) तथा उसमें चेतना के अंश।

भासमान संसार से चेतन होने के लिए, आत्मा को कोई ना कोई रूप एवं उसका उपकरण (Medium) धारण करना पडता है। तभी तो वह संसार का अनुभव कर सकता है। उपकरण की तरह, वह जिस रूप को ग्रहण करता, है, उसके गुणधर्म के द्वारा ही अब आत्मा की चेतना का प्रकार और अंश (degree) निश्चित होता है। आत्मा प्रथमतः स्थूल शरीर धारण करके, स्थूल संसार का अनुभव करता है। आरंभ में स्थूल संसार की जो चेतना उसे प्राप्त होती है, वह अत्यंत आंशिक तथा प्राथमिक प्रकार की होती है। और तदनुसार, आत्मा अत्यंत अविकसित रूप (पाषाण का रूप) धारण करता है। पाषाण की अवस्था से सृष्टिविकास आरंभ होता है। **भिन्न भिन्न इच्छाओं या संकल्पों व्दारा चिन्हित संस्कारों के संचय के कारण, चेतना को जो वेग प्राप्त होता है, वही विकास की संचालक शक्ति है। इस प्रकार** एक विशिष्ट रूप में जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, वे एक उच्चतर रूप या श्रेष्ठतर उपकरण के द्वारा तथा तदनुसार स्थूल संसार की श्रेष्ठतर चेतना

के द्वारा, कार्य में परिणत किये जाते हैं। अतएव आत्मा क्रमशः उच्चतर रूप (जैसे धातु, वनस्पति, कीडे, मछली, पक्षी, तथा पशु) धारण करता जाता है। तथा अंत में, मानवीय रूप धारण करता है। मानवीय रूप में, उसे स्थूल संसार की विचार, भाव तथा क्रियासंबंधी **पूर्ण चेतना** (Full Conscio usness) प्राप्त हो जाती है।

विकास की संचालक शक्ति।

चेतना के विकास में संस्कार किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, और उन्हें कार्य में परिणत करने के लिए, संस्कारों के अनुसार रूपों का कैसा सृजन होता है,—यह बात समझने के लिए, एक उपयुक्त सादृश्य से सहायता मिल सकती है। यदि एक मनुष्य नाट्य मंच पर राजा का अभिनय करने की इच्छा रखता है, तो वह इस इच्छा का तभी अनुभव कर सकता है, जब वह यथार्थ में, राजा की पोशाक पहने, तथा मंच पर उपस्थित हो। अन्य इच्छाओं और आकांक्षाओं पर भी, यह बात लागू होती है। इच्छाएं तथा आकांक्षाएं, तभी कार्य में परिणत की जा सकती हैं, या उनकी पूर्ति की जा सकती है, जब कि समूची परिस्थिति में परिवर्तन हो, तथा उस उपकरण या रूप में भी परिवर्तन हो, जिसके द्वारा वह परिस्थिति पर्याप्तः अनुभव की जा सके। विकासक्रम की संचालन शक्ति को समझने के लिए, यह सादृश्य अत्यंत सांकेतिक है। विकास **की संचालक शक्ति यंत्रतुल्य नहीं है, किंतु प्रयोजनात्मक है।**

संस्कार केवल रूप (शरीर), तथा रूप के अनुसार चेतना का ही विकास करने के लिये, जिम्मेदार नहीं हैं; किंतु चेतना को दृश्य संसार से बद्ध करने के लिए, भी जिम्मेदार हैं। संस्कारों के कारण चेतना की मुक्ति—(चेतना को दृश्य संसार से खींच कर आत्मा की ओर मोडना)—उप मानवीय (Subhuman) अवस्था में असंभव, तथा माननीय स्थिति में कठिन हो जाती है। चूंकि चेतना पूर्व संचित संस्कारों से चिपक जाती है, तथा दृश्य संसार का अनुभव, उपकरण के उपयोग में लाये जाने वाले रूप (शरीर) के कारण, सीमित हो जाता है, अतएव आत्मा, विकासक्रम की प्रत्येक स्थिति में, अपने को रूप (पत्थर, धातु वनस्पति, पशु) इत्यादि से संबद्ध कर लेता है, अर्थात् अपने को आत्मा न समझ कर, रूप समझने लगता है। इस प्रकार, आत्मा, जो वास्तव में अनादि अनन्त तथा रूपरहित है, अपने को आदि-अन्त-युक्त अनुभव करता है, तथा अपने को पत्थर, धातु, वनस्पति, कीट, मछली, पक्षी तथा पशु समझने लगता है। इन सभी स्थितियों में, आत्मा की चेतना का अंश (degree) उस रूप पर निर्भर रहता है, जो रूप वह धारण करता है। **अंत में, आत्मा जब माननीय रूप धारण करके स्थूल संसार का अनुभव करने लगता है, तब वह अपने को मनुष्य समझने लगता है।**

रूप से तादात्म्य अर्थात् देहात्मभाव

मानवीय रूप में, आत्मा की चेतना पूरी तरह विकसित हो जाती है। अतएव, स्थूल रूप (शरीर) के अधिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः, मानवीय रूप के प्राप्त होते ही, रूपों का विकास समाप्त हो जाता है; तथा मानवीय रूप में, जो संस्कार संचित हो गये रहते हैं, उन्हें अनुभव करने, तथा कार्य में परिणत करने के लिए, आत्मा को बार बार जन्म धारण करना पड़ता है। आत्मा का असंख्य मानवीय रूपों में बार बार जन्म लेना, कर्म के नियम के द्वारा, निर्दिष्ट होता है। अर्थात् जैसे पूर्वसंचित संस्कार—(सद्गुण या दुर्गुण के संस्कार, सुख या दुःख के संस्कार)—होते हैं, उन्हीं के अनुसार, मानवीय रूप प्राप्त होते हैं। आत्मा जब बार बार मानवीय रूप धारण करके, जीवन व्यतीत करता है, तब **वह अपने को नाशवान स्थूल शरीर समझता रहता है।**

पुनर्जन्म तथा कर्म का नियम।

मानवीय रूप धारण करके, स्थूल संसार की पूर्ण चेतना विकसित करते समय, **आत्मा, साथ ही साथ, सूक्ष्म** (Subtle) **और मानसिक** (Mental) **एवं कारण शरीर भी विकसित करता है।** किंतु, चूंकि उसकी चेतना केवल स्थूल संसार तक सीमित रहती है, अतः वह इन सूक्ष्म एवं मानसिक शरीरों का उपयोग, जागृत अवस्था

सूक्ष्म शरीर तथा मानसिक शरीर।

में, चेतनतः नहीं कर सकता। वह सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों, तथा उनसे संबद्ध सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से, तब चेतन होता है, जब उसकी पूर्ण चेतना अंतर्मुख होती है, या खुद की ओर मुड़ती है। जब आत्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा, सूक्ष्म संसार से चेतन होता है, तब वह अपने को सूक्ष्म शरीर समझने लग जाता है। और जब वह मानसिक एवं कारण शरीर के द्वारा, मानसिक संसार से चेतन होता है, तब वह अपने को मानसिक शरीर समझने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे, जब वह स्थूल शरीर के द्वारा, स्थूल संसार से चेतन होता है, तब वह अपने को स्थूल शरीर समझने लगता है।

स्थूल शरीर तथा मानसिक शरीर से अपना तादात्म्य अनुभव करने के भ्रम से, आपको मुक्त करना, आत्मा की स्वगृहयात्रा है। जब आत्मा का ध्यान आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति की ओर आकृष्ट होता है, तब दृश्य संसार की ओर चेतना को खींचनेवाले, तथा दृश्य संसार से चेतना को बद्ध करनेवाले संस्कार धीरे धीरे लुप्त तथा शिथिल होते हैं। ज्यों ज्यों, संस्कारों का **लोप होता जाता है, त्यों त्यों सांसारिक भ्रम का आवरण हटता जाता है।** और इस प्रकार, आत्मा केवल दृश्य संसार की विभिन्न अवस्थाओं का ही अतिक्रमण नहीं करता है, किंतु वह अपने को अपने

आध्यात्मिक साधनापथ ।

विभिन्न शरीरों से भिन्न समझने लगता है। जब आत्मा अपने आप को जानने का प्रयत्न करता है, तथा अपनी पूर्ण चेतना सत्य (ईश्वर) की ओर मोडता है. तब उसके आध्यात्मिक साधनापथ का आरंभ होता है।

साधना पथ की प्रथम अवस्था में, आत्मा अपने स्थूल शरीर तथा स्थूल संसार से पूर्णतः अचेतन हो जाता है, और अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म संसार को अनुभव करता है, और अपने को सूक्ष्म शरीर, समझता है। द्वितीय अवस्था में, आत्मा अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर, तथा सूक्ष्म संसार से भी बिलकुल अचेतन हो जाता है, और मानसिक एवं कारण शरीर के द्वारा, **मानसिक** संसार को अनुभव करता है, और वह अपने को मानसिक शरीर समझता है। इस अवस्था में, **आत्मा ईश्वर अर्थात् परमात्मा के बिलकुल सम्मुख आ जाता है,** और परमात्मा की अनन्तता का अनुभव करने लग जाता है। **किंतु, यद्यपि वह परमात्मा की अनन्तता का अनुभव करता है, तथापि वह अपने को दर्शक तथा परमात्मा को दर्शनीय समझता है।** आत्मा अपने को मन या मानसिक शरीर समझता है, अतः वह अपने को मर्यादित (finite) मानता है।

यहां यह विरोधाभास (Paradox) उत्पन्न होता है कि **आत्मा, जो यथार्थ में सीमारहित** (Infinite) **है,**

अपनी सीमातीत (Infinite) **अवस्था का दर्शन करता है, किंतु, तो भी, वह अपने को सीमित समझता है, क्योंकि दर्शन करते समय वह अपने को मन समझता है।** वह अपने को मन समझता है तथा मन के विषय को परमात्मा एवं विश्वात्मा समझता है। इसके अतिरिक्त, वह दर्शनीय परमात्मा से युक्त या एक होने की ही आकांक्षा नहीं करता, किंतु उस आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए, कठोर प्रयत्न करता है।

तृतीय अवस्था में, आत्मा की पूर्ण चेतना और भी अंतर्मुख या आत्माभिमुख हो जाती है, और वह अपने को मानसिक एवं कारण शरीर से भी भिन्न समझने लगता है।

ध्येय

इस प्रकार, तृतीय तथा अंतिम अवस्था में, (यह अवस्था ध्येय है,) **आत्मा अपने को अपने उन तीनों भी शरीरों से भिन्न समझता है** जिन्हें पूर्ण चेतना विकसित करने के लिए, उसने निर्मित किया था। और वह अब अपने को रूपरहित तथा सभी शरीरों और संसारों से केवल परे ही नहीं समझता, किंतु वह अपने को पूर्ण चेतनापूर्वक एक, अद्वितीय, अखंड, सत्य तथा सीमातीत विश्वात्मा से एकरूप जानता है। अर्थात् आत्मा अपने को परमात्मरूप ही जानता है। इस सत्य की अनुभूति होने पर, आत्मा परमात्मावस्था के अनन्त, आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त शांति, तथा अनन्त ज्ञान का निरन्तर अनुभव करता है।

सारांश।

आरंभ में, आत्मा को विश्वात्मा के साथ अपनी एकता का ज्ञान नहीं था। अतः परमात्मा का अविभाज्य अंग होते हुए भी, वह परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव नहीं कर सकता था, और परमात्मावस्था की अनन्त शांति, अनन्त आनंद, अनन्त शक्ति, तथा अनन्त ज्ञान का आस्वादन नहीं कर सकता था क्योंकि उसकी चेतना विकसित नहीं हुई थी। चेतना के विकसित हो जाने पर भी, वह परमात्मावस्था की अनुभूति नहीं कर सकता —(यद्यपि सदा सर्वदा वह विश्वात्मा में तथा विश्वात्मा के साथ है)—क्योंकि उसकी चेतना उत्क्रान्ति-जन्य संस्कारों के कारण, दृश्य संसार से संबद्ध हो जाती है। आध्यात्मिक साधनापथ पर भी, आत्मा आत्मचेतन नहीं होता है, किंतु वह केवल उन स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से चेतन हो जाता है, जो उसकी भ्राममयी छायाएं हैं। किंतु, **साधनापथ के अंत में, आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से संबद्ध समस्त संस्कारों तथा इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, और उसके लिए, अपने आप को सीमित (finite) होने के उस भ्रम से मुक्त करना संभव हो जाता है, जो उसके स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक कारण शरीरों से तादात्म्य (Identification) के कारण उत्पन्न हो जाता है।** इस स्थिति में, आत्मा भासमान (Phenomenal) संसार से पूर्णतः परे हो जाता है, तथा

आत्मचेतन (Self-conscious) तथा आत्मप्राप्त (Self-realised) हो जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, आत्मा को अपनी पूर्ण चेतना कायम रखनी चाहिए, तथा साथ ही साथ, उसे अपने को शरीर (स्थूल देह) प्राण, (सूक्ष्म शरीर, जो इच्छाओं और आंतरिक शक्ति का वाहन है), तथा मन (मानसिक एवं कारण शरीर जो मन का निवास स्थान है) से भिन्न जानना चाहिए, तथा उसे अपने को स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसारों से भी परे जानना चाहिए।

अपने को सीमित समझने के भ्रम से, आत्मा को, धीरे धीरे, इस प्रकार, मुक्त होना चाहिए। (१) **उसे अपने आपको संस्कारों के बंधन से मुक्त करना चाहिए** और (२) **उसे अपने को अपने शरीर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण) से भिन्न जानना चाहिए।** इस प्रकार, आत्मा अपना मिथ्या अहंकार एवं भ्रम (जैसे 'मैं स्थूल शरीर हूं' 'मैं सूक्ष्म शरीर हूं;' या 'मैं मानसिक शरीर हूं,') नष्ट करता है। आत्मा, इस प्रकार, भ्रम-मुक्त हो कर भी, अपनी पूर्ण चेतना को बनाये रखता है। अब यह चेतना आत्मज्ञान तथा सत्यानुभूति प्राप्त करती है। **सांसारिक भ्रम से मुक्त होना, तथा पूर्ण चेतनापूर्वक अनन्त एवं सीमारहित विश्वात्मा से अपनी एकता का ज्ञान प्राप्त करना आत्मा की लंबी यात्रा का लक्ष्य है।**

ध्यान के प्रकार

(भाग ५.)

विशिष्ट ध्यान जो व्यक्तिपरक होते हैं।

भाग ३ में बतलाया जा चुका है, कि विशिष्ट ध्यान तीन प्रकार के होते हैं। (१) **अनुभव के विषय** (Objects of Experience) से संबंध रखनेवाला ध्यान, (२) **अनुभव करनेवाले** (Subject of Experienee) से संबंध रखनेवाला ध्यान, (३) **मानसिक व्यापार** (Mental Operations) से संबंध रखने वाला ध्यान। ध्यान के ये तीनों प्रकार परस्पर संमिश्रित हैं। क्योंकि अनुभव करनेवाला, तथा अनुभव के विषय, तथा उनके बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न मानसिक व्यापार परस्पर अविच्छेद रूप से संग्रथित हैं। **अतएव, ध्यान के ये तीनों प्रकार एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न तथा स्वतंत्र नहीं हैं; किंतु उनमें परस्पर आधार-आधेय संबंध है।** इस प्रकार, अनुभव के विषय संबंधी ध्यान का बहुधा न्यूनाधिक संबंध अनुभव करनेवाले तथा तद्विषयक मानसिक व्यापारों से रहता है; अनुभव करनेवाला संबंधी ध्यान बहुधा अनुभव के विषय तथा तद्विषयक मानसिक

विशिष्ट प्रकार के ध्यान।

व्यापारों से संबंध रखता है; और विभिन्न मानसिक व्यापार संबंधी ध्यान, अनुभव करनेवाला तथा अनुभव के विषय दोनों से, बहुधा संबंध रखता है। तथापि एक प्रकार के विशिष्ट ध्यान में, किसी एक तत्व की **प्रधानता** होने के कारण, वह दूसरे प्रकार के विशिष्ट ध्यान से भिन्न होता है। अतः, पहले प्रकार का ध्यान प्रधानतः अनुभव के विषय से संबंध रखता है; द्वितीय प्रकार का ध्यान प्रधानतः अनुभव करनेवाले से संबंध रखता है; और ध्यान के तीसरे प्रकार का विभिन्न मानसिक व्यापारों से संबंध रहता है।

गणनात्मक श्रेणी-करण की सूची।

ध्येय के विषय के विशिष्ट धर्म तथा ध्यान की विशिष्ट पद्धति के अनुसार, उपर्युक्त तीनों प्रकार के ध्यानों में से प्रत्येक के अनेक उपविभाग भी किये जा सकते हैं। ध्यान के अनेक विशिष्ट रूपों के उप-विभागों में से केवल प्रतिनिधिक तथा प्रधान उपविभाग ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अतः गणनात्मक श्रेणियों की सूची में विशिष्ट ध्यान के बारह रूप शामिल किये गये हैं।

स्मरण रहे, विशिष्ट ध्यान के बारह रूप जिनका उल्लेख श्रेणीकरण की गणनात्मक सूची पृष्ठ में किया गया है, में से प्रथम चार **व्यक्ति पर** (Personal) ध्यान के रूप हैं; तथा शेष आठ **तत्वपर** एवं **व्यक्तिनिरपेक्ष** (Impersonal) ध्यान के रूप हैं (श्रेणीयों की गणनात्मक सूची देखिये)। ध्यान

व्यक्तिपरक तब होता है, जब उसका संबंध व्यक्ति से होता है; तथा ध्यान तत्वपरक तब होता है, जब (अ) मानवीय व्यक्तित्व (Human personality) के अवयवों से उसका संबंध होता है, या (ब) उसका संबंध किसी ऐसी वस्तु से होता है, जो मानवीय व्यक्तित्व (जैसा कि साधारणतः समझा जाता है) के परे होता है। विशिष्ट ध्यान के व्यक्तिपरक रूपों में से प्रत्येक का स्पष्टीकरण इसी लेख में किया जायगा, तथा तत्वपरक विशिष्ट ध्यान के रूपों में से प्रत्येक का अलगअलग स्पष्टीकरण भाग ६ में किया जायगा।

व्यक्तिपरक ध्यान तथा व्यक्तिनिरपेक्ष एवं तत्वपरक ध्यान।

तत्वपरक ध्यान के विरुद्ध, व्यक्तिपरक ध्यान में, कुछ विशेष सुविधाएं एवं लाभ हैं। नये अभ्यासियों के लिए, व्यक्तिसंबंधी ध्यान सरल तथा सुखद होता है; किंतु तत्वपरक ध्यान बहुधा शुष्क एवं कठिन होता है। केवल कुछ ऐसे लोगों के ही लिए, वह सरल होता है, जिनमें उसकी ओर विशेष प्रवृत्ति, तथा उसे करने की विशेष क्षमता होती है। इसके अतिरिक्त, तत्वपरक ध्यान के रूप, अधिकांशतः, मन या बुद्धि के अनुशासन हैं; किंतु व्यक्तिपरक ध्यान के रूप, मन या बुद्धि के लिए केवल अनुशासन नहीं हैं, किंतु हृदय को भी प्रवाहित और विकसित करते हैं। मन तथा

व्यक्तिपरक ध्यान के विशेष लाभ।

हृदय दोनों की पूर्णोन्नति तथा समभारता (Balance) ही सच्ची आध्यात्मिक पूर्णता है।

व्यक्तिपरक ध्यान मन तथा हृदय को समानतः उन्नत तथा दोनों को समभार करता है; अतएव उसका विशेष महत्व है। व्यक्तिपरक ध्यान के रूपों के द्वारा, जब साधक पर्याप्त रूप से तैयार हो जाता है, तभी तत्वपरक ध्यान के रूप, उसके, लिए, यथार्थतः फलदायक तथा प्रभावशाली सिद्ध होते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण व्यक्तियों का ध्यान व्यक्तिपरक ध्यान है। नेपोलियन के चरित्र की प्रशंसा करने वाले, तथा नेपोलियन के विषय में निरंतर सोचनेवाले मनुष्य की उसी के समान बनने की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार, जो साधक किसी सिद्ध आध्यात्मिक पुरुष की प्रशंसा करता है, तथा उसके विषय में सदैव सोचता है, उसकी उसी के समान आध्यात्मिकता में सिद्ध होने की प्रवृत्ति होती है। **जीवित सद्गुरु या जीवित अवतार अथवा भूतकालीन सद्गुरु या अवतार** व्यक्तिपरक ध्यान के उपयुक्त ध्येय विषय हैं। मुख्य बात है ध्येय विषय का आध्यात्मिकता में पूर्ण होना। **यदि ध्यान के लिये चुना गया मनुष्य, आध्यात्मिकता में पूर्ण या सिद्ध नहीं हुवा, तो ऐसे ध्येयविषय के दोष,**

आध्यात्मिकता में पूर्ण पुरुषों या सिद्ध व्यक्तियों का ध्यान व्यक्तिपरक ध्यान हैं

दौर्बल्य, ध्यान करनेवाले साधक के मन में प्रविष्ट हो जावेंगे, किंतु ध्यान के लिए चुना गया पुरुष आध्यात्मिकता में सिद्ध और पूर्ण है, तो समझना चाहिए साधक ने सुरक्षित तथा निश्चित पथ तय पदार्पण किया है।

गुरु के दिव्य गुणों पर ध्यान

गुरु में, जब साधक कोई दिव्य गुण देखता है, तो उस गुण के प्रति उसके हृदय में सहज भाव से प्रशंसा उत्पन्न होती है। गुरु के दिव्य गुण की प्रशंसा से ही, व्यक्तिपरक ध्यान आरंभ होता है। **गुरु के जीवन में अभिव्यक्त दिव्य गुणों का मन में चिंतन करके साधक उन गुणों को स्वयं ग्रहण करता है** *। अंततोगत्वा गुरु का जो अस्तित्व होता है, वह तो अच्छे बुरे सभी गुणों से परे होता है। वह गुणों के द्वारा बद्ध नहीं होता है। किंतु अपने चारों ओर के जीवन से व्यवहार करते हुए उसके जो गुण प्रकट होते हैं, वे गुण कार्य में परिणत व्यक्तित्व के विभिन्न अवयव होते हैं। और गुणों के द्वारा उसकी दिव्यता की अभिव्यक्ति, उसके प्रशंसक तथा उसके प्रतिग्रहणशील व्यक्तियों की सहायता करने के लिए, एक साधन होती है। गुरु में दिखाई देनेवाली दिव्यता के प्रति ग्रहणशील होने के परिणामस्वरूप, ध्यान के उन रूपों की उत्पत्ति होती है, जिनमें साधक निरन्तर तथा परिश्रमपूर्वक गुरु का चिंतन करता

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. १.

है, तथा उन्हें विश्व प्रेम (universal love) पूर्ण अनासक्ति, अहंकारशून्यता, निश्चलता, अनन्त ज्ञान तथा निःस्वार्थ कर्म की सजीव प्रतिमा समझता है। कभी कभी, मन इन गुणों में से किसी एक का ध्यान करता है, तथा कभी कभी, इन गुणों को सम्मिश्रित करके, उनका एक साथ चिंतन करता है। वस्तुतः, गुरु के इन गुणों का अन्योन्य संबंध तो रहता ही है। जब गुरु के दिव्य गुणों का ऐसा ध्यान सहज से उत्पन्न होता है, तो वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। **ऐसे सहज स्फूर्त गुणचिंतन से, गुरु का माहात्म्य अधिकाधिक समझ में आता है, और क्रमशः साधक का चरित्र, गुरु के ही दिव्य चरित्र की भांति, संगठित होता जाता है।** इस प्रकार, साधक सत्यानुभूति के लिए, स्वयं तैयार होता जाता है।

गुरु के रूप पर ध्यान।

गुरु के गुणों पर ध्यान करना गुरु के रूप पर ध्यान करने में सहायक होता है। * इस प्रकार के ध्यान में, साधक को गुरु की आध्यात्मिक पूर्णता का ज्ञान रहता है; और उसकी पूर्णता के विभिन्न अंगों या विभिन्न गुणों का **बिना विश्लेषण** (Analysis) **किये** ही, उसका ध्यान सहजतः गुरु के रूप पर केन्द्रित हो जाता है। तथापि यद्यपि गुरु के गुण मन में अलग अलग दोहराये नहीं जाते, किंतु

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. २.

साधक की, उन गुणों के विषय में, जो कुछ भी धारणा बंध गयी रहती है—(गुरू के विभिन्न गुणों से संबंध रखने-वाले प्रारंभिक ध्यान के द्वारा)—वह धारणा, ऐसे एकाग्र ध्यान की अनाशंकित पृष्ठभूमि हुआ करती है। इस प्रकार, रूप पर ध्यान करने से भी, साधक गुरु के गुणों को ग्रहण करता है; तथा इस प्रकार का ध्यान भी फलोत्पादक तथा मूल्यवान है। इस प्रकार के ध्यान में, गुरु के रूप तथा आध्यात्मिक आदर्श पूर्णतः युक्त कर दिये जाते हैं; अर्थात् गुरु और परमात्मा में कोई अंतर नहीं माना जाता।

हृदयप्रधान ध्यान।

गुरु तथा आध्यात्मिक आदर्श (परमात्मा) की पूर्णता एक समझने से साधक तथा गुरु के बीच का अंतराय दूर हो जाता है, जिससे गुरु के प्रति अबाध प्रेम-प्रवाह उमडने लगता है। ऐसे प्रेम-प्रवाह के उमडने से हृदयप्रधान ध्यान * का उदय हो जाता है। असीम प्रेम के अजस्र प्रवाह के द्वारा, गुरु का निरंतर चिंतन हृदयप्रधान ध्यान है। ऐसा प्रेम गुरु और शिष्य को वियुक्त करनेवाले भेद के भ्रम को नष्ट करता है। **हृदय-प्रधान ध्यान में, जो स्वाभाविकता होती है उसका ध्यान के अन्य रूपों में पाया जाना कठिन है।** हृदय के ध्यान की अंतिम स्थिति से अपार आनन्द तथा पूर्ण स्वत्व विस्मरण का अनुभव होता है।

---

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ३.

गुरु के प्रति प्रेम, ज्यों ज्यों बढता है, त्यों त्यों साधक गुरु से अधिकाधिक युक्त होता जाता है। परिणामतः, **साधक अपने सीमित व्यष्टिजीवन के लिए नहीं, किंतु गुरु में, तथा गुरु के लिए जीवित रहने की इच्छा करता है।** इस इच्छा के परिणामस्वरूप, (कृतिप्रधान ध्यान की उत्पत्ति होती है।) कृतिप्रधान ध्यान की प्रारंभिक रीतियां निम्नलिखित रूप धारण करती हैं : * (अ) **साधक, मन ही मन, अपने समस्त गुणावगुण गुरु को समर्पित करता है।** इस प्रकार, वह अपने सद्गुण तथा दुर्गुण सब कुछ का त्याग कर देता है। फलतः, वह अच्छे बुरे सभी प्रकार के अहंकार से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के ध्यान से, **वह द्वंद्वों से ही मुक्त नहीं होता, किंतु गुरु के सीमारहित व्यक्तित्व में वह स्थायी तथा सच्ची पूर्णता प्राप्त करता है।** (ब) साधक स्वेच्छापूर्वक गुरु की सेवा करता है; अथवा गुरु के आध्यात्मिक कार्य की सिद्धि के लिए, स्वेच्छा से सेवाकार्य करता है। निःस्वार्थ सेवाभाव से, गुरु के लिए कार्य करना उतना ही अच्छा है, जितना ध्यान। (क) साधक अपने को अपने किसी भी छोटे या बडे, अच्छे बुरे कार्य का कर्ता नहीं मानता, जिससे उसके अहंकार की वृद्धि न हो कर, उसका लोप होता है। वह यह नहीं सोचता

कृतिप्रधान ध्यान की रीतियां

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ४.

'मैं यह कर रहा हूं', किंतु इस के विपरित, वह व्यवस्थित ढंग से, इस विचार की उन्नति करता है, कि वह जो कुछ भी कार्य कर रहा है, वास्तव में, वह कार्य, उसके द्वारा, उसके गुरु ही कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, जब वह देखता है, तब वह सोचता है, 'गुरु देख रहा है;' जब वह खाता है, तब वह सोचता है, 'गुरु खा रहा है;' जब वह सोता है, तब वह सोचता है, 'गुरु सो रहा है;' जब वह मोटर चलाता है, तब वह सोचता है, 'गुरु मोटर चला रहा है;' यदि कभी वह कोई गलती भी कर बैठता है, तब वह सोचता है 'गुरु यह कर रहा है'। इस प्रकार, वह अपने कार्य का स्वकर्तापन पूर्णतः त्याग देता है; और जो कुछ भी वह करता है, उसे वह प्रत्यक्षतः गुरुकृत ही समझता है। **ऐसा करने से, स्वभावतः तथा आवश्यकतः, गुरु में देखे गये आध्यात्मिक आदर्श के प्रकाश में, प्रत्येक कार्य का निर्देश होता है।**

गुरु पर किये जानेवाले व्यक्तिपरक ध्यान के चार रूप, चार मुख्य उर्ध्वगामिनी स्थितियों (Ascending stages) का प्रतिनिधित्व करते हैं। (१) **आध्यात्मिक आदर्श गुरु में देखना** (२) गुरु को आध्यात्मिक आदर्श का सजीव रूप समझ कर, गुरु पर **चित्त को एकाग्र करना,** (३) गुरु को आध्यात्मिक आदर्श

व्यक्तिपरक ध्यान के चार रूप चार उर्ध्वगामिनी स्थितियाँ का प्रतिनिधित्व करते हैं।

की अभिव्यक्ति समझ कर, उन्हें **प्रेम** करना, तथा (४) **गुरु में देखे गए आध्यात्मिक आदर्श को अपने निजी जीवन में व्यक्त करना**। गुरुसंबंधी व्यक्तिपरक ध्यान के विभिन्न रूप, आध्यात्मिक पूर्णता के निर्मितित्वम (creative) जीवन की मुक्तिप्राप्ति के लिए सहायक होते हैं। गुरु पर ध्यान करना जीवित आदर्श पर ध्यान करना है। यह ध्यान पूर्णता की कोरी कल्पना पर ध्यान करना नहीं है। अतः, इस ध्यान में संचालक शक्ति उत्पन्न होती है; तथा उसमें, अंतमें साधक सिद्धान्त (Theory) और व्यवहार (Practice) की खाई को मिटाने में सफल होता है। तथा अपने आध्यात्मिक आदर्श को अपने दैनिक कार्य तथा निजी जीवन में व्यक्त कर सकता है। **उस आध्यात्मिक आदर्श, गुरु जिसका मूर्त सजीव रूप है, के द्वारा प्रेरित, उत्साहित तथा जागृत जीवन को पाना व्यक्तिपरक ध्यान रीतियों की अंतिम परासीमा है।**

— — —

विशिष्ट ध्यान के रूपों की श्रेणियों की सूची।

अ	अनुभव के विषय (Object of Experience)	१ गुरु के दिव्यगुणों पर ध्यान	व्यक्तिपरक (Pesrsonal) ध्यान के रूप
		२ गुरु के रूप पर ध्यान	
		३ हृदयप्रधान ध्यान– (भक्तियोग)	
		४ कृतिप्रधान ध्यान– (कर्मयोग)	
		५ अभिव्यक्त जीवन के नानारूप का ध्यान	व्यक्तिनिरपेक्ष एवं तत्वपरक (Impersonal) ध्यान के रूप।
		६ अपने निजी शरिरों से संबंध रखनेवाला ध्यान	
		७ ईश्वर के निराकार तथा अनंत स्वरूप का ध्यान	
ब	अनुभव करनेवाले (Subject of Experience) से संबंध रखनेवाला ध्यान।	८ कर्ता (Agent of action) की खोज	
		९ अपने को साथी समझना	
क	मानसिक व्यापारों (Mental Operations) से संबंध रखनेवाला ध्यान।	१० विचारों को लिखना	
		११ मानसिक व्यापारों का निरीक्षण करना।	
		१२ मन को शून्य बनाना।	

ध्यान के प्रकार

(भाग ६)

तत्वपर विशिष्ट ध्यान।

भाग ५ में,व्यक्तिपर विशिष्ट ध्यानों के स्पष्टीकरण के लिए, उन पर विवेचन किया गया है। इस भाग में, उन विशिष्ट ध्यानों का स्पष्टीकरण किया जायगा, जो तत्वपर एवं व्यक्तिनिरपेक्ष (Impersonal) हैं। स्मरण रहे, कि व्यक्तिपर ध्यान वह ध्यान है, जो एक मनुष्य या व्यक्ति से संबंध रखता है; तथा तत्वपर ध्यान वह ध्यान है, जो या तो (१) व्यक्तितत्व के अंगों से संबंध रखता है, या (२) उस वस्तु से संबंध रखता है, जो मानवीय व्यक्तित्व –(जैसा कि प्रायः समझा जाता है)– की सीमा के बाहर है। विशिष्ट ध्यानों के सूची में, (भाग ५ में देखिये) ध्यान के प्रथम चार रूप व्यक्तिपर ध्यान हैं, तथा ध्यान के शेष आठ रूप तत्वपर ध्यान हैं। व्यक्तिपर ध्यान के रूपों की ही भांति, तत्वपर ध्यान के रूपों में से प्रत्येक का अलग अलग स्पष्टीकरण करने, तथा उसपर टीका करने की आवश्यकता है।

व्यक्तिपर (Personal) तथा तत्वपर (Impersonal) ध्यान

मनुष्य की रुचि तथा ध्यान, अपने खुद के शरीरों या अन्य शरीरों (रूपों) पर, केन्द्रित तथा बद्ध हो जाते हैं। उस आत्मा की ओर उनका ध्यान नहीं जाता है, जिसे ये रूप व्यक्त करते हैं। अपने या औरों के शरीरों से ऐसी आसक्ति होने के कारण, भ्रमों, बंधनों तथा अन्य जटिलताओं की उत्पति होती है; और ऐसा ध्यान आवश्यक होता है, जिसके द्वारा, अनेक रूपों का यथार्थ अर्थ तथा वास्तविक पद (Status) का सही ज्ञान प्राप्त किया जा सके, तथा रूपों के प्रति यथार्थ रुख धारण किया जा सके। * **संसार के सभी रूपों को, एक सर्व व्यापक आत्मा की समान अभिव्यक्ति, समझने के निरंतर अभ्यास में, आरूढ होना ही, ऐसा ध्यान है।** ऐसे ध्यान में रूपों का पृथक् तथा स्वतंत्र अस्तित्व शून्यरूप समझा जाता है। इस प्रकार के ध्यान के द्वारा, सृष्ट संसार तथा उसके रूपों से अनासक्त होने में, सहायता मिलती है, तथा ऐसा ध्यान सर्वोच्च प्रकार के विश्वव्यापक प्रेम की वृद्धि करने में भी, सहायक होता है। **ऐसा सार्वलौकिक प्रेम, समस्त मानवों, तथा संसार के अन्य जीवों को एक ही कुटुंब के विभिन्न प्राणी मानता है।**

अभिव्यक्त जीवन के अनेक रूप से संबद्ध ध्यान

किंतु जीवन के अनेक रूपों से संबंध रखनेवाला ध्यान

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. (भाग ५)

का प्रकार तब तक अधूरा रहता है, जब तक अपने खुद के शरीर से संबंध रखनेवाले एक दूसरे प्रकार के ध्यान के द्वारा, उसकी पूर्ति नहीं की जाती *।

अपने खुद के शरीरों से संबंध रखनेवाला ध्यान।

अपने खुद का स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक कारण शरीर, दूसरों के शरीरों की ही भांति, एकमेव सर्वव्याप्त जीवन का ही, एक रूप है। किंतु **चेतना अपने खुद के शरीरों से इतनी अधिक आसक्त हो जाती है, कि वह उनसे अपना तादात्म्य अनुभव करने लगती है;** अर्थात् अपने को स्थूल, सूक्ष्म, या मानसिक शरीर समझने लगती है। अपने शरीरों से अनासक्त होने, अर्थात् अपने को अपने शरीरों से परे समझने का निरंतर अभ्यास करने से, चेतना की मुक्ति तथा सच्चे आत्मज्ञान की प्राप्ति में, सहायता मिलती है। और इस प्रकार का ध्यान, साधक के लिए, अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। ऐसे ध्यान के द्वारा, अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर ऐसे वस्त्रों के सदृश प्रतीत होते हैं, जो कभी भी, पहने या उतारे जा सकते हैं।

अभिव्यक्त जीवन के अनेक रूपों से संबंध रखने वाला ध्यान, तथा अपने खुद के शरीरों से संबंध रखनेवाला ध्यान, दोनों ध्यान, तत्वपर ध्यान * के लिए, प्राथमिक तैयारियां हैं।

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ६ (भाग ५)

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ७ भाग ५.

तत्वपर ध्यान में, (अ) चेतना को, अभिव्यक्त जीवन के समस्त रूपों से तथा अपने स्थूल, सूक्ष्म या मानसिक, शरीरों से खींच कर, **अंतर्मुख** करने का प्रयत्न किया जाता है, तथा (ब) **चेतना को ईश्वर के निराकार एवं अनन्त स्वरूप पर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया जाता है।** इस प्रकार के तत्वपर ध्यान की आरंभिक अवस्थाओं में, अनन्त के किसी न किसी चिन्ह का आधार लिया जाता है। अनन्त का निराधार तथा अस्पष्ट विचार के द्वारा, ऐसा ध्यान शुरू करने की अपेक्षा, किसी ऐसे प्रतीक (symbol) का आधार लेना वस्तुतः अधिक सहायक होता है, जिससे अनन्तता का संकेत या सूचना मिले। आकाश, समुद्र या व्यापक रिक्तता (emptiness) के साकार रूप पर, मन को स्थिर करना चाहिए; किंतु एक बार कोई खास प्रतीक या रूप चुन लेने पर, साधक को पूरे ध्यानकाल में उसी से चिपके रहना चाहिए। अर्थात् किसी अन्य प्रतीक या रूप के द्वारा उसे बदलना नहीं चाहिए। उपर्युक्त चिन्हों या प्रतीकों द्वारा, पूर्ण तथा असीम रिक्तता की कल्पना करना कठिन होता है, किंतु यदि असीम रिक्तता की कल्पना कोई कर सके, तो वह अनन्तता का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। अनन्तता के लाक्षणिक चिन्हों के बतौर साधक असीम रिक्तता की कल्पना का भले ही आश्रय ले, किंतु इस प्रकार के ध्यान में उसे मन को पूर्णतः शून्य नहीं करना चाहिए।

ईश्वर के निराकार तथा अनन्त स्वरूप पर ध्यान।

मन की **पूर्ण** शून्यता का अर्थ है, समस्त मानसिक क्रियाओं को समाप्त करना, अर्थात् मन को पूर्णतः विचारविहीन करना। किंतु, इस प्रकार के ध्यान में मन इस अर्थबोधक चिन्ह की सहायता से, ईश्वर के निराकार तथा सीमातीत स्वरूप को समझने तथा अनुभव करने का प्रयत्न करता है।

तत्वपर ध्यान का वह एक महत्वपूर्ण रूप है। इस में, अनन्तता की जो कल्पना की जाती है, वह मन ही मन बहिर्भूत नहीं कर दी जाती, मानों वह अनन्तता साधक से **बाहर** किसी वस्तु का असीम विस्तार हो। अनन्त को अपने **अंदर** चित्रित करना अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। अनन्त को अपने अन्दर चित्रित करके, अपने आप को, उससे युक्त अनुभव करना चाहिए। अपने अन्दर चित्रित अनन्तत्व से अपनी एकता की अनुभूति करने के लिए स्वयं को संबोधित करके, इस प्रकार प्रबल आत्मसूचना (Auto-suggestion) देनी चाहिए, 'अंतर स्थित प्रकाश की तरह, मैं अनन्त हूं', या 'अंतर-स्थित रिक्तता की भांति, मैं अनन्त हूं'। 'अनन्त मेरे अन्दर है,' या 'मैं अनन्त हूं', केवल ऐसा ही अनुभव करना कहीं अधिक लाभदायक होता है। मन ही मन उक्त सूत्रों को दोहराते समय, अनन्तता के अर्थ तथा महत्व को, चुने हुए चिन्ह की सहायता से, समझना तथा अनुभव करना चाहिए। सूत्र को बहुत से

अनन्त की कल्पना अपने अंदर करना।

शब्दों में, दोहराना आवश्यक नहीं है। सूत्र, जिस विचार को प्रकट करता है, उस **विचार** से चिपके रहना पर्याप्त है।

'मैं अनन्त हूं,' के ध्यान के द्वारा, साधक ईश्वर के निराकार तथा अनन्त स्वरूप में, मग्न हो सकता है। कुछ साधक इतने पूर्णतः मग्न हो जाते हैं, कि मच्छड़ों के झुंड के झुंड उनके पास निकल जाते हैं, किंतु वे उनकी आवाज नहीं सुनते। संभव है, कि कुछ साधक चित्त को इस प्रकार स्थिर न कर सकें, तथा उनका ध्यान शीघ्र ही भंग हो जाय। ध्यान में असफल होनेपर, उन्हें चिंता नहीं करनी चाहिए, किंतु उन्हें दृढतापूर्वक ध्यान जारी रखना चाहिए। उन्हें मग्नता कि प्राप्ति हो या न हो। ढीला या आरामदायक आसन, ध्यान मग्नता के लिए, सहायक होता है; किंतु ईश्वर के अनंत स्वरूप में अंतिम निमग्नता की प्राप्ति, गुरु सहायता के बिना असंभव है।

ध्यान के जिन विभिन्न रूपों का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है, वे प्रधानतः अनुभव के तत्वपर विषयों से संबंध रखते हैं, किंतु ध्यान के कुछ तत्वपर रूप अनुभव के कर्ता से संबंध रखते हैं।

कार्य के कर्ता की खोज।

ध्यान का ऐसा एक महत्वपूर्ण रूप, निरंतर इस प्रश्न का सही उत्तर खोज निकालना है, कि 'वह कौन है, जो ये सब कार्य करता है'। * साधक, अपने आप

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ८ (भाग ५.)

को इस प्रकार विचार करता हुआ पाता है, 'मैं सोता हूं' 'मैं चलता हूं,' 'मैं खाता हूं,' 'मैं बोलता हूं,' 'मैं देखता, सुनता, छूता, चखता, तथा सूंघता हूं, 'मैं सोचता हूं, अनुभव करता तथा इच्छा करता हूं,' इत्यादि। किंतु यह ध्यान जिस प्रश्न का उत्तर चाहता है, वह है, "यह 'मैं' कौन है"? **आत्मा इन में से कुछ भी अनुभव नहीं करता।** आत्मा न तो सोता, चलता, खाता, बोलता, देखता, सुनता, छूता, चखता तथा सूंघता और न वह सोचता अनुभव करता और इच्छा करता है। तो फिर, इन कार्यों का करनेवाला कौन है। इन तमाम कार्यों के कर्ता को खोज निकालना चाहिए, तथा समस्त जीवन का रहस्योद्घाटन करना चाहिए।

कोई एक शक्ति है, जो ये तमाम कार्य करती है। साधक को अपने आपको उस शक्ति से भिन्न भी समझना चाहिए; तथा उस शक्ति का आसक्ति रहित हो कर उपयोग भी करना चाहिए। साधक सोचता है, कि 'वह चलता है', किन्तु यथार्थ में, उसका **शरीर** चलता है। साधक सोचता है, कि 'वह सोचता है, अनुभव करता है, या इच्छा करता है;' किंतु यथार्थ में, उसका **मन** किसी सुविधाजनक उपादान के द्वारा ये सब कार्य करता है। **साधक आत्मा है; और वह सर्वत्र है, तथा वस्तुतः यह कुछ नहीं करता।** किंतु वह आत्मा है; 'वह सर्वत्र है, तथा वह कुछ भी नहीं करता,'—

यह **सोचना** ही, उसके लिए पर्याप्त नहीं है, उसे यह **जानना** भी अवश्य चाहिए।

ध्यान का एक दूसरा प्रकार, ध्यान के उपर्युक्त प्रकार से थोडा ही भिन्न है। यह भी अनुभव के कर्ता से संबंध रखता है; तथा उसके द्वारा, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है।

अपने आप को साक्षी समझना

इस प्रकार के ध्यान में, **साधक अपने को समस्त शारीरिक तथा मानसिक कार्यों का साक्षी समझता है।** * स्पप्न से जागने के पश्चात्, मनुष्य को यह ज्ञान होता है, कि स्वप्न में किये गये कार्यों का वह कर्ता नहीं था, किंतु केवल साक्षी था। जिस प्रकार, स्पप्न के कार्यों का वह अपने को कर्ता नहीं मानता, उसी प्रकार, जागृत अवस्था में, अनुभव होनेवाले तमाम शारीरिक एवं मानसिक कार्यों का, साधक अपने आपको, सिर्फ साक्षी समझने के अभ्यास की निरंतर वृद्धि करे, तो उसे ऐसी पूर्ण अनासक्ति प्राप्त होगी, जिससे सांसारिक कार्यों से संबद्ध समस्त चिंताओं तथा दुःखों से उसे मुक्ति मिल जायगी। इस ध्यानपद्धति का उद्देश है, साधक को काल के बंधनों से छुटकारा दिलाना, तथा सीमा-बद्ध प्राण शक्ति की द्वंद्वात्मक अभिव्यक्तियों से उत्पन्न होनेवाली अशांति एवं यंत्रणा से उसको छुडाना। साक्षी की हैसियत से आत्मा

* गणनात्मक श्रेणी की सूची मे ध्यान नं. ९ (भाग ५)

कालगत समस्त कार्यों से परे रहता है, तथा **कार्यों के फल उसे बांधते नहीं हैं।** किंतु उसका केवल विचार नहीं, किंतु **अनुभव** करना आवश्यक है।

अनुभव करनेवाले से संबंध रखनेवाली ध्यान विधियों की एक असुविधा यह है, कि **अनुभव का यथार्थ कर्ता, साधारण अर्थ में, चिंतन या ध्यान का विषय कदापि नहीं हो सकता।** अतः, ऐसे ध्यान विषयों का अभ्यास करने से, अधिक हुआ तो साधक आत्मज्ञान के बहुत समीप आ सकता है। किंतु पूर्ण आत्मज्ञान की अनुभूति तो तभी हो सकती है, जब मन का सीमाक्षेत्र पूर्णतः पार किया जाय। अतः, विशिष्ट ध्यान के कुछ तत्वपर रूप **मानसिक क्रियाओं** से संबंध रखते हैं। **मन का स्थिर करना** ही ऐसे ध्यान का अंतिम लक्ष्य होता है।

चित्त को स्थिर करने का महत्त्व।

विचारों को वश करने का एक उपाय, पूर्णतः यह जानना है, कि वे यथार्थ में हैं क्या? अतः, उन पर विजय प्राप्त करने के पूर्व, उनका अवलोकन करना आवश्यक है। सामान्य अंतर्दर्शन (Introspection) में, नये अभ्यासी के लिए, मन में भ्रमण करनेवाले सभी छायात्मक (Shadow) विचारों पर, पर्याप्त ध्यान दे सकना बहुधा संभव नहीं होता। अतः, प्रसंग पर, मन में आनेवाले विचारों को, उसी क्रम से

विचारों को लिखते जाना।

लिखते जाना; * तथा अवकाश के समय समाधानीपूर्वक उनका निरीक्षण करना, साधक के लिए, अधिक सुविधाजनक सिद्ध होता है। विचारों को लिखने की यह विधि पूर्व-चिंतित लेख लिखने से भिन्न है। इस ध्यानविधी में, विचार बिना किसी निर्देश या संयम के लिखे जाते हैं। उन पर, किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया जाता; तथा वे जैसे उदित होते हैं, वैसे ही वे लिख लिए जाते हैं। विचारों को इस प्रकार लिखने से, उपचेतना मन के प्रतिरुद्ध अर्थात् दबे हुए विचार भी चेतन में प्रवेश करते हैं।

मानसिक व्यापारों का निरीक्षण करना।

ध्यान की अधिक उन्नत अवस्था में, चेतना में विचारों के प्रकट होते समय होनेवाली मानसिक क्रिया की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त की जा सकती है; तथा विचारों को लिखना आवश्यक हो जाता है। मानसिक व्यापारों का निरीक्षण * करने के साथ ही साथ, उनका आलोचना-पूर्वक विवेचन अर्थात् मूल्यनिरूपण भी करते जाना चाहिये। विचारों की तुच्छता या महत्ता, अर्थात् विचारों के सदसद्विवेक के द्वारा ही, विचार वशीभूत किये जा सकते हैं। जब मन पर आक्रमण करनेवाले विभिन्न विचारों की सारासारता की विवेकपूर्वक समालोचना की जाती है, तथा संस्कारों के आंतरिक संचालन का

* गणनात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. १० (भाग ५)

* गणात्मक श्रेणी की सूची में ध्यान नं. ११ (भाग ५)

सामना किया जाता है, तभी उन विचारों को समझा जाता है, तथा उनके मूल्यामूल्य के अनुसार उनका ग्रहण या त्याग किया जाता है; और तभी उन विचारों के अत्याचार तथा उत्पीडन (Obsessions and compulsions) से, मन मुक्त होता है।

मन को शून्य करना।

उपर्युक्त ध्यान विधि का अभ्यास करने से. एक दूसरे प्रकार का ध्यान करना सरल हो जाता हैं, जिसमें मन को विचार-शून्य करने * का प्रयत्न किया जाता है। मन को विचार-विहीन करना सबसे अधिक कठिन कार्य है। **निद्रावस्था में यद्यपि मन में किसी प्रकार के विचार नहीं रहते, तथापि चेतना सुप्त रहती है। किंतु, जब चेतना सुप्त न रहे, और तब मन यदि विचारविहीन होने के लिए, किसी विचार की सहायता लेता है, तो वह उस विचार का चिंतन है, और वह इस प्रकार, विचार-शून्य नहीं** होता है। किंतु एक ऐसी युक्ति है, जिस के द्वारा, मन को विचार-शून्य करने का यह अति कठिन कार्य संभव हो जाता है और वह है, दो परस्परविरोधी ध्यानविधियों का **क्रम-क्रम से** अवलंबन करते जाना, जिससे **मन एकाग्रता तथा विक्षेप के बीच में फंस जाता है।**

इस प्रकार, साधक को पहले पांच मिनट तक, गुरु का ध्यान करना चाहिए। तदनन्तर, मन ज्योंही गुरु के रूप

* गणनात्म श्रेणी की सूची में ध्यान नं. १२ (भाग ६) ५

पर, एकाग्र हो रहा हो, त्योंही 'मैं अनन्त हूं', जैसे तत्वपर ध्यान के द्वारा, दूसरे पांच मिनट तक चित्त को एकदम एकाग्र कर देना चाहिए। इन दो विरुद्ध ध्यान रूपों की विषमता, इन ध्यानक्रमों को करने की विधि-वैषम्य के द्वारा और भी बढायी जा सकती है। जैसे गुरु के रूप पर ध्यान करते समय, आंखें खुली रखी जा सकती हैं; तथा तत्वपर ध्यान करते समय, आंखें बंद की जा सकती हैं। इस प्रकार, भिन्न ध्यानक्रमों को, बारी बारी से बदल करने से मन को शून्य बनाने में, सहायता मिलती है। किंतु, इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए, यह आवश्यक है, कि जिस समय तक एक ध्यान किया जाय, उस समय तक सचाई के साथ वही ध्यान किया जाय, अर्थात् एक तरह का ध्यान करते समय दूसरे तरह के ध्यान का जरा भी ख्याल न किया जाय; यद्यपि पांच मिनट के बाद परिवर्तन होने का है, तथा दूसरे प्रकार का ध्यान किया जानेवाला है, तथापि पहले प्रकार का ध्यान करते समय, इसका जरा भी विचार नहीं करना चाहिए। किंतु परिवर्तन कर लेने के बाद, अर्थात, दूसरे प्रकार का ध्यान करते समय, पहले प्रकार के ध्यान के बारे में जरा भी नहीं सोचना चाहिए। जब ध्यान की एकाग्रता नहीं होगी, तो ध्यान का विक्षेप कैसे होगा? पूर्ववर्ती एकाग्रता जिस प्रकार पूर्ण होनी चाहिए, उसी प्रकार परवर्ती विक्षेप भी पूर्ण हो जाना चाहिए। **एकाग्रता तथा**

ध्यान की एकाग्रता तथा विक्षेप के बीच पर्यायक्रिया

विपेक्ष के बीच में शीघ्रतापूर्वक पर्यायक्रिया करना, मानों मानसिक व्यापारों को, आगे बढ़नेवाली तथा पीछे हटनेवाली आरी से चीरना है; और सभी प्रकार के मानसिक व्यापार का लोप होने से चेतना की जागृत अवस्था में, मन बिलकुल स्थिर या विचार-शून्य हो जाता है।

साधक के मन में, उत्पन्न होनेवाले विचार उसके मन के उद्वेग के द्योतक हैं। विचार संचित संस्कारों के वेग से उत्पन्न होते हैं। मन की उद्विग्नता तभी दूर हो सकती है, जब साधक मन पर इतना वश प्राप्त कर ले, कि वह इच्छानुसार मन के विचारों को निकाल बाहर करने में सफल हो। **केवल पूर्ण आंतरिक मौन में ही, सत्य का उदय होता है।** जब झील की सतह स्थिर रहती है, तभी उसमें तारे प्रतिबिंबित हो सकते हैं; इसी प्रकार, **जब मन प्रशांत होता है, तभी उसमें, आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिंबित होता है।**

सत्य प्रशांत मन में प्रतिबिंबित होता है।

ध्यान के प्रकार

(भाग ७)

सहजसमाधि

आध्यात्मिक साधना-पथ में ज्ञान-पूर्वक प्रवेश करने के पूर्व, जो विभिन्न प्रकार के ध्यान मनुष्य करता है, तथा साधक बनने के पश्चात्, वह जिन विभिन्न सामान्य तथा विशिष्ट ध्यानपद्धतियों का आश्रय लेता है, वे सब ध्यान सहजसमाधि के सर्वोच्च साध्य की सिद्धि के साधन हैं। जीवन के परम साध्य या परम लक्ष्य की उपलब्धि होने पर, साधक सहजसमाधि में नित्य के लिये आरूढ हो जाता है। ध्यान के अन्यान्य पूर्व रूपों से सिद्ध अर्थात् ईश्वरप्राप्त पुरुष की सहजसमाधि **अविच्छिन्न** होती है। तथा वह उन ध्यानों की पराकाष्ठा है। एक अर्थ में, **सहजसमाधि पूर्ववर्ती समस्त ध्यानों की पूर्णता और पूर्ति है**। किंतु साथ ही साथ अन्य सभी ध्यानों तथा सहजसमाधि में प्रकारभेद है। सहजसमाधि अन्य ध्यानों से, पूर्णतः भिन्न श्रेणी का ध्यान है।

सहजसमाधि निरुपम है।

आध्यात्मिक साधनापथ में पदार्पण न करनेवाले संसारी मनुष्य के सामान्य "ध्यानों" में जो सहजता (Spontaneity)

का मिथ्या रूप दिखाई देता है, उससे सहज-समाधि की सहजता या आयास–शून्यता बिलकुल भिन्न है। यह बात सावधानी के साथ समझ लेनी चाहिये।

संसारी मनुष्य के अध्यात्मपूर्व ध्यान।

संसारी मनुष्य का ध्यान इंद्रिय के विषयों या अन्य सांसारिक विषयों तथा वस्तुओं में जम जाता है; और इन विषयों के संबंध में, वह जो विभिन्न प्रकार के ध्यान करता है, उनमें किसी आयास का अनुभव नहीं होता। उन विषयों में, उसकी स्वाभाविक रुचि होने के कारण उसका मन उनका चिंतन करता है। चेष्टापूर्वक प्रयत्न करके, वह उन विषयों का चिंतन नहीं करता।

नाना सांसारिक विषयों पर मन को लगाने में, प्रयत्न का सवाल नहीं उठता; किंतु मन को उन पर से हटाने में प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है, कि साधनापथ पर पदार्पण करने से पहले कियेजाने-वाले सांसारिक विषयों के ध्यान की सहजता तथा सिद्ध की सहजसमाधि की सहजता में बहुत कुछ समानता है। किंतु ध्यान की आरंभिक अवस्था तथा ध्यान की अंतिम अवस्था के बीच दिखाई देनेवाली यह समानता कोरी बाह्य समानता है, क्योंकि सहजसमाधि तथा आध्यात्मिकतापूर्व (Prespiritual) "ध्यानों" के बीच में महान् एवं मौलिक भेद है। सांसारिक विषयों एवं वस्तुओं से संबंध रखनेवाले अध्यात्मपूर्व (Pre-Spiritual) ध्यानों में सहजता का जो भाव दिखाई

देता है, वह संस्कारजन्य रुचियों के कारण है। **अध्यात्मपूर्व 'ध्यान' भूतकालीन संचित संस्कारों के वेग का, कार्य में परिणत होने का परिणाम है।** अध्यात्मपूर्व ध्यानों की भ्रामक सहजता सांस्कारिक रुचियों से होती है। **और उन ध्यानों में स्वतंत्रता का अनुभव तो दूर ही रहता है; किन्तु, वे, वास्तव में, आध्यात्मिक परतंत्रता के लक्षण हैं।** अध्यात्मपूर्व अवस्था में, मनुष्य को अनन्त स्वतंत्रता का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं रहता है; और वह घोर अज्ञान से निरंतर ग्रस्त रहता है। उसका सुखी और संतुष्ट होना तो दूर रहा, यह अपना सांस्कारिक रुचि के विषयों से ऐसा जकड जाता है, कि वह संस्कार-बंधनों की वृद्धि में ही आल्हाद का अनुभव करता है भोगपदार्थों से उसे जो सुख मिलता है, वह द्वंद्वात्मक तथा अस्थिर होता है; और भोगविषयों के "ध्यान" में उसे जो सहजता का अनुभव होता है, वह भ्रामक है, क्योंकि विषय-चिंतन की क्रिया में, उसका मन, संस्कार के वेग से विवश हो कर, द्वंद्व के भीतर कार्य करता है। **भ्रम की वजह, उसके मन की विवशता सहजता-सदृश प्रतीत होती है।**

जब मन सांस्कारिक ग्रंथियां तथा आसक्तियाँ इनसे पूर्णतः मुक्त होगा, तभी वह सच्ची स्वतंत्रता एवं सहजता के साथ कार्य कर सकगा। सांस्कारिक बंधन से मन तभी मुक्त होता है, जब

वह सिद्ध की सहजसमाधि में मग्न होता है। अतः, यह महत्त्वपूर्ण बात स्मरण रखनी चाहिए, कि यद्यपि सिद्ध पुरुष की सहज-समाधि तथा संसारी मनुष्य के अध्यात्मपूर्व ध्यानों के बीच जो बाह्य साम्य दिखाई देता है, वह दिखाई देनेवाला साम्य मिथ्या सहजता तथा सच्ची सहजता के बीच के भेद पर, परतंत्रता और स्वतंत्रता के भेद पर, तथा क्षणभंगुर सुख तथा अमर सुख के अंतर पर परदा डाल देता है। **अध्यात्मपूर्व 'ध्यानों' में, मानसिक व्यापार अज्ञात पराधीनता एवं विवशता (Compulsion) के द्वारा बाध्य होता है; एवं सहजसमाधि में, मानसिक व्यापार ज्ञात एवं बंधनरहित स्वेच्छा से प्रेरित होता है।**

सहजसमाधि में सच्ची स्वतंत्रता तथा सहजता की अनुभूति होती है।

आध्यात्मिक साधक, विभिन्न ध्यान पद्धतियों के द्वारा, जो साधना करता है, वह संसारी मनुष्य के अध्यात्मपूर्व ध्यान तथा सिद्ध पुरुष की अंतिम सहजसमाधि का मध्यवर्ती भाग है। साधक की साधना, असाधक की आदिम अवस्था तथा सिद्ध की अंतिम अवस्था की जोडनेवाली कडी है। प्रारंभिक अवस्था में, जब संसारासक्त मनुष्य, संस्कारों के वेग से विवश हो कर, भोग के विषयों में प्रवृत्त होने के लिए, बाध्य होता रहता है, तब उसे बारंबार, असफलता, पराजय, तथा पीडा का अनुभव होता है; अथवा आध्यात्मिक

साधक का ध्यान मुक्तिप्राप्ति के लिए उसके संग्राम का एक भाग है।

विवेक की चिनगारी के प्राप्त होने पर, उसकी विषयाधीनता को जबरदस्त धक्का लगता है, जिसके परिणामस्वरूप, उसे अपनी बद्धता तथा भौतिक सुखों के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है। और, **सांस्कारिक बंधनों से मुक्त होने के लिए वह जिन प्रकार की ध्यान-पद्धतियों का अवलंबन करता है, वे सांसारिक इच्छायों की प्रवंचना के पाश से मुक्तिप्राप्ति के उसके संग्राम के ही विभिन्न भाग हैं।** जो ध्यान-विधियां आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, उनके अभ्यास का आरंभ तभी होता है, जब मनुष्य साधक बन जाता है।

साधक के सभी प्रकार के ध्यान प्रयत्न-प्रेरित या चेष्टा-युक्त होते हैं, क्योंकि वह, मन की अभ्यास-जन्य या अन्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने के उद्देश्य से, तरह तरह के ध्यानों का आश्रय लेता है। साधक के विभिन्न ध्यान स्वयमेव साध्य नहीं होते। वे केवल साधन होते हैं, क्योंकि साधक उन ध्यानों को, सत्य के लक्ष्यतक पहुंचानेवाले मार्ग समझता है। ध्यान करना किसी अभ्यासजन्य या किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति को कार्य में परिणत होने के समान नहीं है। ध्यान एक विवेकसम्मत तथा प्रयत्नमूलक चेष्टा है। किंतु ध्यान यद्यपि आरंभ में चेष्टापूर्वक ही किया जाता है, तथापि मन, उसे करते करते, क्रमशः अभ्यस्त हो जाता है। उसके

साधक का ध्यान प्रयत्न-प्रेरित होता है।

अतिरिक्त, ध्यान के विभिन्न रूपों का लक्ष्य होता है, सत्य की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करना; और मन ऐसे अनुभवों को प्राप्त करने की रुचि भी रखता है। यही कारण है, कि विभिन्न प्रकार के ध्यान भी, अधिकाधिक सहज होते जाते हैं। व्यक्तिपर ध्यान के जिन रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए क्षेत्र रहता है, तथा उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है, उनमें सहजता के भाव का जितना अधिक प्राधान्य होता है, उतना ध्यान के अन्य किसी भी रूप में नहीं होता। किंतु ध्यान के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के पहले, पूर्ण सहजता एवं सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव असंभव है। जब तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक प्रायः चेष्टाशीलता तथा सहजता का मिश्रण ही रहता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए, की जानेवाली यात्रा में, चेष्टा, (effort) का कुछ न कुछ अंश तब तक रहता है, जब तक समस्त भ्रम-बाधओं पर, विजय न मिल जाय। **शांति के अगाध सागर की अंतिम थाह मिलने पर, ही चेष्टा का पूर्ण लोप होता है। उसके पहले, चेष्टा का भाव तो रहेगा ही, चाहे किसी अवस्था में वह अधिक रहे, तथा किसी अवस्था में कम।**

सहजसमाधि में चेष्टा नहीं रहती। उस अवस्था में, विजय प्राप्त करने के लिए, न तो कोई बाधा बाकी रहती, और न उपलब्ध करने के लिए कोई अभीप्सित वस्तु बाकी

रहती। **सहज-समाधि में अनिर्बंध स्वतंत्रता की अनन्त सहजता होती है, तथा सत्यानुभूति की असीम शांति तथा अनुपमेय आनन्द।** मनुष्य प्रथम संस्कारों के वेग की विवशता एवं आधीनता की अवस्था को पार करके, साधक की अवस्था की ओर अग्रसर होता है; तथा सांस्कारिक परतंत्रता के विरुद्ध घोर संग्राम की अवस्था में प्रवेश करता है। अंत में, इस अवस्था को पार करके, फिर वह पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार, मनुष्य क्रमशः सहजसमाधि की ओर अग्रसर होता है। **इस अंतिम अवस्था में प्रवेश करने पर, चेतना भूत काल के संचित संस्कारों के द्वारा, निर्दिष्ट नहीं होती; किंतु अनन्त सत्य के निर्मल ज्ञान से प्रेरित हो कर, क्रियाशील रहती है।**

सहजसमाधि की ओर अग्रसर होना।

सिद्ध की सहजसमाधि साधक के ध्यान से, केवल स्वतंत्रता तथा सहजता के ही संबंध में भिन्न नहीं है, किंतु अनेक अन्य मुख्य विषेंया में भी। अनन्य सत्य में मन को पूर्णतः विलीन करने के ही उद्देश्य से, साधक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, विभिन्न प्रकार के ध्यानों की साधना करता है। किंतु ऐसे ध्यानों में मन का केवल आंशिक लोप ही होता है; वैयक्तिक मन का पूर्ण नाश नहीं होता। विभिन्न ध्यानक्रमों के द्वारा, भिन्न भिन्न

वैयक्तिक मन का लोप सहजसमाधि में ही होता है।

अंशों में, सत्यसामीप्य का अनुभव होता है; सत्य की अनुभूति नहीं होती। इसके विरुद्ध, सहजसमाधि में, अंतिम लक्ष्यसिद्धि, अर्थात् सत्यानुभूति हो जाती है; क्योंकि मन पूर्णतः नष्ट हो जाता है, और अनन्त सत्य में वह पूर्ण रूप से विलिन हो जाता है।

ध्यान में अस्थायी उत्कर्ष।

साधक का ध्यान अपनी उच्चावस्थाओं में, बहुधा उसे विशालता (Expansion) तथा स्वतंत्रता का भाव देता है, तथा उच्चतर भूमिकाओं (Higher planes) का आनन्द एवं ज्ञान भी प्रदान करता है। किंतु न तो साधक को अनुभव होनेवाली विशालता तथा स्वतंत्रता के भाव की, और न उसके आनंद एवं ज्ञान की अवस्थिति स्थायी होती है। क्योंकि, **ज्योंही वह ध्यान की उच्च अवस्था से नीचे उतरता है, त्योंहि वह वैसा ही हो जाता है, जैसा वह पहले था**–अर्थात् संस्कारों की मजबूत शृंखलाओं से जकडा हुआ एक साधारण मनुष्य। बहुतेरे साधकों की यही हालत होती है!

ग्वालियर के एक योगी की कहानी से साधक की विभिन्न समाधियों की अपूर्णता स्पष्टतः समझ में आ जायगी। यह योगी बडा लोभी था। किंतु योग के अभ्यास से, उसने समाधिस्थ होने की कला सीख ली थी। एक दिन, वह राजा के महल के सामने बैठा। समाधिस्थ होने के पहले, उसने

सोचा, 'राजा से मैं एक हजार रुपया लूंगा'। इसके पश्चात, वह समाधिस्थ हुआ। तथा पूरे सात दिनों तक, वह उसी अवस्था में रहा। उस बीच में, न तो उसने भोजन किया, न पानी पिया। वह ध्यान समाधि में तल्लीन हो कर, एक ही स्थान में बैठा रहा। लोगों ने उसे एक संत समझा; और जब राजा ने इसके बारे में सुना तो वह भी उसके दर्शन के लिए पहुंचा। राजा योगी के निकट आया; और अनायास योगी की पीठ उससे छू गयी। किंतु, इस हलके स्पर्श से ही, योगी की समाधि भंग हो गयी। ज्योंही अपनी ध्यानसमाधि से वह जागा, त्योंही उसने राजा से एक हजार रुपया माँगे।

एक योगी की कहानी।

जिस प्रकार, एक कैदी, कारागार की कोठरी की खिडकी से विशाल आकाश की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता है, तथा आकाश की असीम व्यापकता के दर्शन में वह निमग्न हो जाता है, उसी भांति ध्यानतन्मयता (Trance) में प्रविष्ट होनेवाला साधक, समाधि-अवस्था की ज्योति एवं आनन्द में तल्लीन रहते समय तक, अस्थायी रूप से, अपनी सारी सीमाओं को भूल जाता है। किंतु यद्यपि कैदी अपने कैदखाने को भूल जाता है, किंतु उससे वह छूट नहीं जाता। इसी प्रकार, **ध्यान-तन्मयता में मग्न साधक की आंखों से भ्रम-मय जगत् की वे श्रृंखला ओझल हो जाती हैं, जिनसे वह बद्ध**

ध्यानतन्मयता का विश्लेषण।

रहता है, किंतु, वह छिन्न नहीं हो जातीं। और जिस प्रकार, चारों ओर की वस्तुस्थितियों पर नजर पडते ही, कैदी को अपनी कैद का स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार सामान्य चेतना की प्राप्ति होते ही, साधक को अपनी सारी दुर्बलताओं का ज्ञान हो जाता है। उच्चतर ध्यान-पद्धतियों के द्वारा, साधक की गुप्त शक्तियों की वृद्धि हो सकती है। किंतु ऐसी ध्यानावस्था में, उसे अनन्त ज्ञान, एवं असीम आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। माया के बंधनों को तोड कर, अंतिम मुक्ति प्राप्त करनेवाले सिद्ध पुरुष की सहजसमाधि में ही, अनन्त ज्ञान, एवं असीम आनन्द की निरन्तर अनुभूति होती है।

साधक की ध्यानतन्मयता तथा सिद्ध की सहजसमाधि में एक और महत्वपूर्ण अंतर है। साधक की ध्यानतन्मयता प्रायः किसी अत्यंत मोहक या आकर्षक भासमान दृश्य विषय पर आश्रित रहती है। सांसारिक विषयासक्ति से मन को खींच कर, तथा उसे ध्यानतन्मयता की शांति की ओर आकृष्ट करने में, **सूक्ष्म जगत् के प्रकाश, रंग, सुगंध, ध्वनि तथा स्वाद इत्यादि का महत्वपूर्ण हाथ रहता है।** इससे स्पष्ट है, कि साधक की ध्यानतन्मयता स्वतंत्र या स्वावलंबी नहीं रहती। और अधिकांशतः, वह उस वस्तु पर आश्रित रहती है, जिस पर मन आसक्त हो जाता है।

ध्यान तन्मयता किसी दृश्य विषय पर आश्रित रहती है।

इसके विपरीत, **सिद्ध की सहजसमाधि आत्म-**

निर्भर रहती है; तथा वह चित्त के किसी विषय पर अवलंबित नहीं रहती। साधक की ध्यानतन्मयता बहुत कुछ मादक द्रव्य से उत्पन्न उन्माद के समान है। मादक द्रव्य का प्रभाव जब तक रहता है, तब तक उन्माद रहता है। इसी प्रकार, साधक की ध्यानमग्नता तब तक रहती है, जब तक मन उस विषय के वश में रहता है, जिस पर वह आश्रित है। इसके विपरीत, सहजसमाधि किसी विषय के वशीभूत नहीं रहती। **वह एक ऐसी पूर्ण जागृत अवस्था है, जिसमें उतार-चढाव अथवा ह्रास-वृद्धि के लिए, जरा भी स्थान नहीं रहता। सहजसमाधि में ज्ञान की निश्चल स्थिरता रहती है।**

सहजसमाधि आत्म-निर्भर है।

साधक जिन सामान्य तथा विशिष्ट ध्यानों का आश्रय लेता है, वे **अपनी अपनी सीमाओं के भीतर** उपयोगी तथा लाभदायक हैं। यह नहीं समझना चाहिए, कि सभी के लिए उनका एकसा महत्व है, या सभी के लिए वे एक समान आवश्यक हैं। वे साधक को दिव्य मंजिल में ले जाने-वाले भिन्न भिन्न रास्ते हैं। आध्यात्मिक अवस्था में उन्नत कुछ थोडे व्यक्तियों के लिए, अधिकांश सामान्य ध्यान-क्रम अनावश्यक हैं। इसी प्रकार, ईश्वरप्राप्त गुरु के निकट संपर्क में रहने वालों के लिए, अनेक विशेष-

सहजसमाधि-स्थ पुरुष ही उचित ध्येय विषय है।

ध्यान बहुधा आवश्यक नहीं होते। उनके लिए, गुरु की आज्ञा का पालन, तथा गुरु के प्रति प्रेम पर्याप्त हैं। किंतु वे विरले पुरुष, जिन्हें आत्मानुभूति हो चुकी है, तथा **जो सदैव सहजसमाधि की अवस्था में रहते हैं, साधकों के लिए, स्वयं ध्येयविषय हैं।** उन्हें किसी प्रकार के ध्यान की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे ब्रह्मज्ञ सिद्ध पुरुषों पर ध्यान करने से, उनकी सर्वोत्तम सहायता प्राप्त होती है।

ध्यान के प्रकार

(भाग ८)

सहजसमाधि में आरोहण तथा सहजसमाधिका स्वरूप

जब मन सही ढंग से ध्यान के विषय से एकीभूत होता है, तब वह सत्य में निमग्न हो जाता है, और सहजसमाधि, अर्थात् अविच्छिन्न आत्मज्ञान के सहज आस्वादन की अवस्था का अनुभव करता है। सहजसमाधि में, साधक की सीमित सत्ता विलीन हो जाती है; और उसे यह ज्ञान होता है, कि वह उस ईश्वर से युक्त है, जो प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। सहजसमाधि पूर्वतर व्यक्तिपर तथा तत्वपर ध्यानों की उपज (Product) नहीं है, किंतु उनकी परासीमा (Culmination) है।

सहजसमाधि पूर्वतर ध्यानविधियों की परासीमा है।

साधक जिन क्रमों का अनुसरण करता है, तथा जिन आध्यात्मिक साधनाओं का आश्रय लेता है, उन सब का एक ही लक्ष्य होता है; और वह लक्ष्य है, अनन्त से युक्त होने की आकांक्षा की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति। जब वह एकता प्राप्त

हो जाती है, तब साधक सिद्ध हो जाता है। सिद्ध अनन्त से जो ऐक्य करता है, उसे सूफी लोग "वस्ल" के नाम से पुकारते हैं। ईश्वरैक्य की इसी अवस्था को ईसा ने इन शब्दों में व्यक्त किया,— "मैं और मेरे पिता एक हैं" ("I and my father are one")।

अनन्त से एकता की प्राप्ति के पश्चात् सहजसमाधि की अनुभूति होती है।

चेतना की सर्वोच्च अवस्था के विषय में, बहुतों ने लिखा है; किंतु वह वस्तुतः अनिर्वचनीय है। शब्दों के द्वारा, यह अवस्था व्यक्त नहीं की जा सकती; अतः, वह अवर्णनीय है। किंतु, **यद्यपि एक व्यक्ति यह अवस्था दूसरे व्यक्ति को नहीं समझा सकता, तथापि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इस अवस्था का अनुभव कर सकता है।** सिद्ध की इस अवस्था का नाम सहजसमाधि है।

सहजसमाधि में निवास करना उस ईश्वरावस्था का ज्ञान प्राप्त करना है, जिसमें आत्मा अपने आपको परमात्मा अनुभव करता है। क्योंकि उसके, स्वस्वरूपविषयक भ्रामक अज्ञान उत्पन्न करनेवाले समस्त बंधन छिन्न हो चुके हैं। सिद्ध की **ईश्वरावस्था,** (God state) संसारी मनुष्य **के देहभाव** (body state) से, मूलतः भिन्न होती है। संसारी मनुष्य अपने को शरीर समझता है; और वह उस अवस्था में रहता है, जो देह तथा दैहिक इच्छाओं के वश में रहती है। उसकी

शरीरनिष्ठ जीवन

चेतना देहासक्त हो जाती है; तथा देह के चारों ओर केन्द्रित हो जाती है। खाने, पीने, सोने तथा अन्य दैहिक इच्छाएं पूरी करने से ही, उसे, मतलब रहता है। **वह देह के लिए जीता है; तथा देह के ही द्वारा, वह तृप्ति का अनुभव खोजता है।** उसकी चेतना देह से परे विस्तृत नहीं हो सकती। जब वह किसी वस्तु के विषय में सोचता है, तब वह देह के ही दृष्टिकोण से सोचता है। वह ऐसी किसी वस्तु के विषय में नहीं सोच सकता, जो देहरहित या रूप-रहित हो। जब वह किसी वस्तु के बारे में सोचता है, तो सदैव ही, उसके विचार का कुछ न कुछ संबंध देह से या रूप से रहता है। **उसके जीवन का सकल क्षेत्र रूपसृष्टि का रहता है;** और उसके जीवन, कर्म एवं सत्ता का प्रदेश (space) स्थानमय होता है।

शक्तिपर जीवन।

देहभाव को पार करना ईश्वरावस्था, अर्थात् सहज-समाधि की ओर प्रथम पग बढाना है। देहावस्था को त्यागना, जीवन के उस क्षेत्र में प्रविष्ट होना है, जो शक्तिमय है। शक्तिमय जगत् में प्रविष्ट होने पर, साधक देहों या रूपों के वशीभूत नहीं रहता। वह शक्ति (Energy) के प्रदेश में उठ जाता है। **देह या रूप शक्ति की ही एक प्रकार की घनीभूत अवस्था है। और रूप-मय जगत् से प्राणमय जगत् में उठना, अस्तित्व की अधिक मौलिक तथा पवित्रतर अवस्था**

में, पदार्पण करना है। शक्तिमय जगत् रूप-मय जगत् की अनेक सीमाओं से मुक्त है। इस अवस्था में, चेतना प्राण से आसक्त हो जाती है; और वह सर्वदा शक्ति में, तथा शक्ति के ही द्वारा, स्पन्दन करती है। प्राणावस्था में शक्ति का ग्रहण और पाचन, देहावस्था के खाने और पीने के समान है। इस अवस्था में, आत्मा का शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है; और शक्ति के उपयोग के ही द्वारा, वह तृप्ति को खोज करता है। किंतु आत्मा के कार्य, कितने भी प्राण-पूर्ण क्यों न हो, वे सीमित ही होते हैं। वे ऐसी अनेक वस्तुएं देख, सुन तथा सूंघ सकता है, जो देहावस्था में दुर्लभ हैं। और वह ऐसे अनेक कार्य कर सकता है—(जैसे अंधःकार में प्रकाश उत्पन्न करना, या हजारों वर्षों तक जीवित रहना)—, जो देहावस्था में रहनेवालों को **चमत्कारसदृश** मालूम होते हैं। किंतु उसके अस्तित्व का समग्र क्षेत्र शक्तिमय ही रहता है; और उसका जीवन चक्र शक्ति के वशीभूत रहता है। वह जो भी विचार या कार्य करता है, वह सब शक्ति के ही दृष्टिकोण से करता, तथा शक्ति के ही द्वारा, उनकी पूर्ति करता है। प्राणावस्था, आध्यात्मिकता में उन्नत आत्माओं की अवस्था है; किंतु सिद्ध की सहजसमाधि की पूर्णता से वह काफी दूर है।

जब शक्तिक्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण करके, आत्मा मन के जगत् में प्रवेश करता है, तब वह सहजसमाधि की ओर दूसरा कदम बढाता है। **समस्त शक्ति अंततोगत्व**

मन की अभिव्यक्ति है। अतः शक्तिमय जीवन से मनोमय जीवन में अवस्थांतर ईश्वरावस्था या सहजसमाधि की ओर अधिक अग्रसर होना है। मनोभूमि के जीवन में, चेतना सीधे मन से संबद्ध हो जाती है, और वह देह तथा प्राण के बंधनों से मुक्त हो कर मन से लद जाती है। मनावस्था (mind—state) में रहनेवाले संतों का देह और प्राण पर पूर्ण अधिकार रहता है। वे दूसरों के मन की बात जान सकते हैं; तथा दूसरों के मनों को वे प्रभावित कर सकते हैं। मुर्दे को भी वे जिला सकते हैं। तो भी मन-मय अवस्था द्वैत और भ्रम की सीमा के ही अंतर्गत रहती है। और अनन्त से युक्त होने के पूर्व यह अवस्था भी पार करनी पडती है।

मनोभूमि का जीवन।

पहलेसे ही, सहजसमाधि की ओर समग्र अग्रगति, वैयक्तिक मन की क्रिया को क्रमशः कम करते जाना तथा उसका अतिक्रमण करना है। मन देहावस्था में तथा प्राणावस्था में क्रियाशील रहता है। किंतु, **देहावस्था में, मन शरीर की दृष्टि से सोचता है, प्राणावस्था में, मन शक्ति की दृष्टि से सोचता है; तथा मनावस्था में, मन अपनी ही दृष्टिसे सोचता है।** मन यद्यपि खुद की दृष्टि से सोचता है, तथापि उसे अनन्त का ज्ञान तथा अनुभूति की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं अपने विचार तथा

मन सत्य पर आवरण डाल देता है।

सत्य के बीच का परदा बन जाता है। यद्यपि मन देहाक्रांत तथा प्राणग्रस्त नहीं रहता तथापि वह अभी भी पृथकत्व की चेतना से सीमित रहता है। इस अवस्था में, वह धूल से ढँके हुए दर्पण की भाँति होता है। अतः ईश्वरावस्था या सहजसमाधि का अनुभव करने के लिए, मन का अनन्त में पूर्ण धुल जाना तथा निमग्न हो जाना आवश्यक हो जाता है। **रूप घनीभूत शक्ति है, शक्ति मन की अभिव्यक्ति है, मन अनन्तता (Eternity) का धूलि-धूसरित दर्पण है, और अनन्तता वह सत्य है, जो मन के आवरण को फेंकने पर अनुभव में आता है।**

बंधनकारक मन को उतार फेंकना कोई सरल कार्य नहीं है। मुख्य कठिनाई यह है, कि मन के द्वारा मन का नाश करना पडता है। मन का अतिक्रमण करने की एक शर्त है, अनन्त में सत्य से युक्त होने की तीव्र आकांक्षा। किंतु मन को पार करते समय, अनन्त धैर्य धारण करना उतना ही आवश्यक है। एक गुरु ने अपने शिष्य से कहा कि जब तुम्हें एक तख्ते से बाँध दिया जावे, और तुम्हारे हाथ पैर भी रस्से से कस कर बाँध दिये जायें, और इस प्रकार, तुम एक नदी में फेंक दिये जावो, और तुम जब इस अवस्था में, अपने काडे को जरा भी गीला न होने देने का प्रयत्न करो, तभी तुम

उत्कट आकांक्षा तथा असीम तितिक्षा से ही मन का अतिक्रमण किया जा सकता है।

सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो सकते हो। शिष्य गुरु की इस शिक्षा का मर्म नहीं समझ सका। वह इसका अर्थ समझने के लिए, एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकता रहा। किंतु आखिर वह एक दूसरे संत के पास पहुंचा। और उनसे अपनी गुरू की शिक्षा का अर्थ पूछा। संत ने बतलाया कि उस शिक्षा का अर्थ यह है, कि ईश्वर मिलन के लिए, उस में ऐसी तीव्र उत्कंठा होनी चाहिए, कि दूसरे क्षण ईश्वर को मिले बिना जी नहीं सकता, और साथ ही साथ, ईश्वर मिलने के लिए, अपार तितिक्षा भी आवश्यक है, ऐसी तितिक्षा जो करोडो वर्षों तक प्रतीक्षा करते करते भी न थके। यदि ईश्वर मिलने के लिए प्रचंड लालसा का अभाव होगा, तो मन संस्कार के अधीन हो कर, त्रुटियां करेगा; और यदि अपार तितिक्षा का अभाव होगा, तो मन की उत्कट लालसा ही मर्यादित मन का व्यापार जीवित रखेगी **अनन्त आकांक्षा तथा अनन्त तितिक्षा के समभार होनेपर ही, साधक सीमित मन के आवरण को वेधने में सफल होगा। और इन दो गुणों के अतिरेकों** (Extremes) **का सम मिश्रण गुरु के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।**

सहजसमाधि में निवास करना सत्य के ज्ञानमें निवास करना है। जिसका मन क्रियाशील है वह इस अवस्था का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वरावस्था मनातीत है, क्योंकि ईश्वरावस्था की

अनुभूति तभी होती है, जब मन के लोप हो जाने पर अनन्तता से एकता की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में, **आत्मा अपने को अपने ही द्वारा जानता है, मन के द्वारा नहीं**। संसारी मनुष्य जानता है कि वह मनुष्य है, कुत्ता नहीं है। इसी प्रकार, सहजसमाधि में आत्मा यह जानता है, कि वह ईश्वर है, न कि कोई सीमित वस्तु। संसारी मनुष्य मन ही मन यह नहीं रटता रहता, कि वह कुत्ता नहीं है, किंतु मनुष्य है; किंतु बिना किसी विशेष प्रयत्न के वह अपने आप को मनुष्य समझता है। इसी प्रकार, सहजसमाधि में, आत्मा में ईश्वर-चैतन्य का आव्हान करने के लिए, कोई कृत्रिम आत्मसूचना (autosuggestion) नहीं देनी पडती। वह सहज एवं **अनायास अंतःप्रज्ञा** के द्वारा अपने को **ईश्वर जानता है**।

सहजसमाधि का आत्म-ज्ञान अनायास अंतःप्रज्ञा से स्फुरित होता है।

सहजसमाधिस्थ सिद्ध पुरुष आत्मज्ञान में आरूढ रहता है। इस ज्ञान की ह्रास-वृद्धि नहीं होती रहती; यह ज्ञान स्थायी होता है। अज्ञानावस्था में, साधक अपने को मनुष्य या स्त्री समझता है। वह अपने को सीमित कार्यों का कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता समझता है। किंतु ज्ञानावस्था में, वह अपने को आत्मा समझता है, जो इन कार्यों के बंधन के परे तथा सुख-दुःखों से अलिप्त रहता है। अपने सच्चे स्वरूप का एक

अनन्त जीवन

बार ज्ञान होते ही, साधक का ज्ञान सदैव के लिए स्थिर रहता है। फिर वह कभी अज्ञान में नहीं फंसता। ईश्वर-चेतना की यह अवस्था, सभी प्रकार से अनन्त होती है। असीम ज्ञान पवित्रता, प्रेम तथा आनन्द ईश्वर-ज्ञान के लक्षण हैं। **सहजसमाधि में प्रवेश करना अनन्त जीवन की असीमता में पहुँचना है।**

सहजसमाधि के दो प्रकार

सहजसमाधि के दो रूप हैं – (१) निर्वाण अर्थात् ईश्वरत्व में निमग्नता, तथा (२) निर्विकल्प, अर्थात् ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति। जब समस्त शरीरों तथा सृष्टि-जगत् से चेतना बिलकुल खींच कर हटा ली जाती है, तब निर्वाण या अतीतावस्था (beyond-state) की प्राप्ति होती है। किंतु जब बिना आसक्ति या बंधन के, चेतना को शरीरों के द्वारा कार्य करने दिया जाता है, तब निर्विकल्प समाधि या सद्गुरु-अवस्था की प्राप्ति होती है। **निर्विकल्प समाधि में चेतना शरीरों का उपयोग उपकरणों की भाँति करती है। उनसे लिप्त न हो कर, वह उनसे अनासक्त रहती है।** मन का अतिक्रमण करना, संसार से चेतना को पूर्णतः खींच लेना है, तथा चेतना का ईश्वर में संपूर्णतः निमग्न होना है। इस अवस्था में संसार शून्य की भाँति हो जाता है। यह निर्वाण है। निर्वाण की प्राप्ति होने पर अनेकों पुरुष संसार की चेतना में वापिस नहीं लौटते। जो थोडे से पुरुष पुनः

संसार की चेतना में लौटते हैं, वे भी संसार को ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं समझते। और निर्विकल्प स्थिति में रहते हैं। निर्विकल्प अवस्था में, मिथ्या-कल्पना-जन्य मानसिक व्यापार समाप्त हो जाते हैं; और **नित्य सत्य की उपलब्धि में, सीमित मन की चंचलता विलीन हो जाती है।**

निर्विकल्प अवस्था की सहजसमाधि उन आत्माओं को प्राप्त होती है, जो सप्तम भूमिका से अवतरित होते हैं।

सद्गुरुओं तथा अवतारों की अवस्था

जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियोंका क्रियाशील प्रत्युत्तर देते समय भी, इस अवस्था की समता तथा स्थिरता भंग नहीं होती। जिसे यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसे सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता है; तथा प्रत्येक वस्तु ईश्वरमय दिखाई देती है। सांसारिक कार्यों से संबंध रखने से, उसकी ईश्वरावस्था का ह्रास नहीं होता। तीर सींचते समय, युद्ध-क्षेत्र में तलवार चलाते समय, वायुयान पर बैठ कर उड़ते समय, या लोगों से बातचीत करते समय, या किसी ऐसे कार्य को करते समय, जिसमें उसके एकाग्र ध्यान की आवश्यकता होती है,—अर्थात् हर समय जीवन के प्रत्येक क्षण में, तथा प्रत्येक परिस्थिति में, वह अनन्त सत्य का ज्ञान-पूर्वक अनुभव करता है।

जीवात्मा परमात्मा में मग्न होने, तथा पराचेतना (Super-consciousness) का अनन्त ज्ञान और आनन्द

प्रदान करने की दृष्टि से, निर्वाण और निर्विकल्प की अवस्थाएं, मुक्ति या मोक्ष की ही अवस्था के समान हैं। किंतु, देहावसान के पश्चात् ही आत्मा को मुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति होती है। निर्वाण और निर्विकल्प अवस्था का अनुभव देहावसान के पूर्व किया जाता है। यद्यपि निर्वाण और निर्विकल्प अवस्था शरीर रखने की दृष्टि से, एक दूसरे के समान हैं, तथा मूलतः एक ही हैं, तथापि दोनों में थोडा भेद है।

मोक्ष, निर्वाण तथा निर्विकल्प अवस्था।

जब आत्मा अहंकार-काष से बाहर निकल कर, ईश्वर के अनन्त जीवन में प्रवेश करता है, तो उसके सीमित व्यक्तित्व का स्थान उसका असीम अस्तित्व (Unlimited Individuality) ग्रहण कर लेता है। आत्मा यह जानता है, कि वह ब्रम्हचेतन है और इस प्रकार, उसका असीम व्यक्तित्व बना रहता है। महत्व की बात यह है, कि व्यक्तित्व का पूर्ण नाश नहीं हो जाता; किंतु आध्यात्मिक रूप (Spiritualised form) में वह सुरक्षित रहता है। यद्यपि अनन्त से एकता के ज्ञान के द्वारा, असीम व्यक्तित्व कायम रहता है, तथापि **वह स्वयंपूर्ण ईश्वरत्व की निरंतर अनुभूति में, सदैव के लिए, निमग्न रह सकता है।** निर्वाण या निमग्नता की इस अवस्था से, कोई भी संसारज्ञान

निर्वाण अवस्था तथा निर्विकल्प अवस्था में भेद

में अवतरित नहीं होता। तथापि कुछ आत्मा, ईश्वर के अनन्त जीवन में निमग्न होते ही, संचालनशील ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति के द्वारा, अपना असीम व्यक्तित्व प्रस्थापित करते हैं। यह निर्विकल्प अवस्था की सहजसमाधि है।

———

मुद्रक नवसमाज प्रेस, नागपूर.

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१५	विशाद	विषाद
,,	२३	है	हैं
७	१	है	हैं
,,	८	करना है	करता है
९	५	सद्भिरुचि	सदभिरुचि
११	८	द्वार	द्वारा
१३	२२	की	का
१५	२०	अध्यात्मिक	आध्यात्मिक
३०	१८	विवेक	विवेक
३३	१	है	हैं
३६	८	जिसमे	जिसमें
,,	१४	तुलना मे	तुलना में
,,	२१	है	हैं
,,	२२	तत्वो के	तत्वों के
,,	२३	,,	,,
३७	१	जिसे	जिस
,,	२	है	हैं
,,	३	,,	,,
,,	६	हैं।	हैं,
३७	७	है	हैं
,,	९	,,	,,
४३	११	हैं	हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१०	कहे	कहें
,,	१३	जांवो को	जीवों का
,,	२०	वहिस्थित	वाहिस्थित
४३	६	विहूलता	विव्हलता
४४	८	ही मिलेगा	ही नहीं मिलेगा
,,	१७	महता	महत्ता
४८	५	वोध हा	वोध हो
४९	१	वारवार	वारंवार
५०	३	आछिन्न	आच्छिन्न
,,	१५	दुर्घर्ष	दुर्द्धर्ष
५१	३	मे	में
५३	२०	होत	होता
५६	१०	जाते हैं;	जाते हैं,
५७	११	है	है,
,,	१८	और	ओर
६१	५	पथ का तय	पथ तय
६२	२१	है।	है,
६६	११	हैं	है
७०	१७	मे	में
७१	५	हैं;	है,
८१	१	साधक	साधक का
८२	२१	हैं;	है;
८३	१	है	हैं
,,	४	,,	,,
,,	१७	कहीं	के ही
८६	१८	है	हैं
८७	२१	वामार	वीमार
९१	४	Foamal	Formal
,,	१३	Vallatio	Valuation

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२२	समस्वरत	समस्वरता
९४	३	लिए, अपने	लिए' वे अपने
९५	७	हैं	है
,,	८	गतों	गतों
,,	१२	हैं	है
१००	७	जायगी	जायेंगी
,,	२१	लायी	बुलायी
१०३	६	साथ	पथ
१०५	७	Psychologica	Psychological
१०७	१	हैं।	हैं,
१०८	१	—केंद्रित्व	—केंद्रित
१०९	४	जाय संभव है।	जाय। संभव है,
११०	१२	पृथक	पृथक्
,,	१५	कृात्रमी	कृत्रिम
,,	१९	वयक्तिक	वैयक्तिक
१११	१	कग्नें	करने
,,	१६	नहा	नहीं
११२	४	है	हैं
,,	१९	,,	,,
११३	२२	प्रात	प्राप्ति
१२२	१	पृथक	पृथक्
,,	१९	,,	,,
१२३	६	,,	,,
१२६	६	अर्थात	अर्थात्
,,	१४	पश्चात	पश्चात्
१२७	१	अहंकारविवेक	अहंकार विवेक
,,	२	रहना	रहता
१२९	१६	सकता	सकता।
१३०	२३	लक्ष	लक्ष्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३१	४	स्वाकार	स्वीकार
१३४	१०	वस्तुओंका	वस्तुओंको
१३५	४	स्वेच्छमूलक	स्वेच्छामूलक
१३९	३	पाथक्य	पार्थक्य
,,	५	ायाविक	मायाविक
,,	११	ड्राइव्ह	ड्राइव्हर
,,	१२	अतिम	अंतिम
१४०	२	आर	और
,,	७	एसे	ऐसे
,,	२१	अनुभवपूर्णता	अनुभव पूर्णता
१४१	३	केद्र	केंद्र
,,	१०	क	के
१४३	१५	हैं	है
१४७	१०	का यह	का
१५२	१३	है।	है,
,,	१४	आध्यात्यिक	आध्यात्मिक
१५३	१८	पृथक	पृथक्
१५४	५	बचनेंका	बचने का
,,	६,९	पृथक	पृथक्
१५५	२,४,७,१६	,,	,,
	२१,२३	,,	,,
१५६	४	,,	,,
,,	८	अभिभूत	अभिभूत
१५७	७	ज्ञानपूर्व	ज्ञानपूर्ण
१६२	१३	किया किया है	किया है
१६५	१	ऐस	ऐसे
,,	१७	है	हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६६	१६	वह	यह
१७२	४	शरीर	शरीर से
,,	५	अनुभव है	अनुभव करता है
१७४	१०	वह	कि वह
१७५	४	य	ये
१८२	५	दृष्टीकोण	दृष्टिकोण
१८४	४	दहचक्षु	देहचक्षु
१८७	१६	अर्थात	अर्थात्
१९२	२	जाय	यायं
२०८	१६	ता दवा	तो दैवी
२११	२	वातावरण में	वातावरण
२१३	१०	पूर्ववत	पूर्ववत्
,,	२३	तथ	तथा
२१४	७	अनुसार;	अनुसार,
२१५	६	उल्हास	उल्लास
,,	१९	इसी	इसीसे
,,	२०	हैं	है
२१६	३	से;	से,
,,	२१	आर उस	और उसे
२२०	१०,१७,१९	जगत	जगत्
२२२	३	दृढ प्रतिज्ञा	दृढ़ प्रतिज्ञ
,,	५	अत्याधिक	अत्यधिक
२२४	९	है	हैं
,,	१८	रहता	रहती
,,	२२	है	है।
२२७	४	हैं	है
२३०	९	और	ओर
,,	९	लटका	लटक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३३	१८	फस	फँस
२३९	२	श्रेणिवद्ध	श्रेणीबद्ध
२५०	१२,१४	हैं	है
२५१	१	यथापि	यद्यपि
२५२	१	चेनना	चेतना
,,	२	अर्थात	अर्थात्
२५५	७,२०	माननीय	मानवीय
२५६	४	,,	,,
२५७	१३	से, आपको	से, अपने आपको
२६०	१०	उत्क्रान्ति	उत्क्रान्ति
२६२	१	अविच्छेद	अविच्छेद्य
२६७	१४,२१	गुरू	गुरु
२६८	२	,,	,,
२७९	१९	नम	मन
१८०	९,११	स्पप्न	स्वप्न
२८२	४	ध्यानविधी	ध्यानविधि
२८२	८	उपचेतना	उपचेतन
२८८	१२	है	है।
,,	२२	सकगा	सकेगा
२९०	४	मुफ्त	मुक्त
२९१	१६	-बाधओं	-बाधाओं
,,	१८	पर, ही	पर ही,
२९२	५	आधीनता	अधीनता
,,	१६	विषेंया	विषयों
२९३	१४	त्योंहि	त्योंही
३०४	१३	नितिक्षा	तितिक्षा
,,	१४	रखेगी	रखेगी।
३०७	१५	सींचते	खींचतें